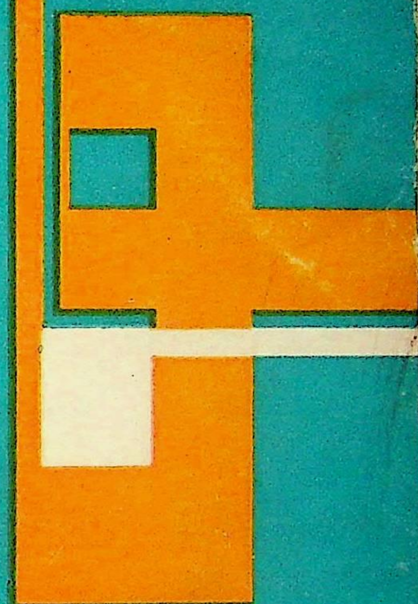
रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव



शैली विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव



केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

प्रथम संस्करण : 1972

द्वितीय संशोधित संस्करण : 1981

मूल्य : रु० 16·00



केंद्रीय हिंदी संस्थान आगरा द्वारा प्रकाशित
और पायनियर प्रिंटर्स, सेठगली, आगरा द्वारा मुद्रित।

प्रथम संस्करण का आमुख

'प्रसार व्याख्यान माला' का आयोजन केंद्रीय हिंदी संस्थान की एक अन्यतम गतिविधि है। इसके अंतर्गत प्रतिवर्ष हिंदी भाषा, हिंदी साहित्य और शिक्षा के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों को तीन-चार व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया जाता है और तत्पश्चात् उन व्याख्यानों को पुस्तकाकार प्रकाशित कराया जाता है। इस प्रकार व्याख्यान माला में दिल्ली विश्वविद्यालय के भाषाविज्ञान विभाग के रीडर और हिंदी साहित्य की आलोचना में शैलीविज्ञान के सिद्धांतों और तकनीकों को अनुप्रयुक्त करने वालों में अग्रणी डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने फरवरी 1970 में जो व्याख्यान दिये थे उनका प्रस्तुत पुस्तक के रूप में प्रकाशन हो रहा है।

शैलीविज्ञान का वस्तुपरक चिंतन और भाषावादी दृष्टिकोण प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रों से सर्वथा समर्थित रहा है और इतनी लम्बी कालावधि के बाद इसका पुनरुत्थान साहित्य की आलोचना के लिए एक शुभ लक्षण है। इस पुस्तक में शैली-विज्ञान के आधारभूत सिद्धांतों और उसकी विवेचना तकनीकों का अति विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिससे अधुनातन हिंदी साहित्य के आलोचकों को नई दृष्टि और दिशा मिलेगी, यह हमारा दृढ़ विश्वास है।

डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के हम बहुत उपकृत हैं कि उन्होंने संस्थान में व्याख्यान देने और तदनंतर बहुत ही कम समय में उन्हें लेखबद्ध करने का हमारा आग्रह स्वीकार किया।

ब्रजेश्वर वर्मा

आमुख

साहित्यिक कृति का अध्ययन जहाँ एक ओर साहित्यिक समीक्षा के मानदंडों के आधार पर किया जा सकता है, वहीं उस कृति में प्रयुक्त भाषा और भाषिक अभिव्यंजनाओं का भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी। साहित्यिक कृति का अध्ययन कई दृष्टियों से किया जा सकता है। उस कृति का अध्ययन उसके वर्ण्य-विषय, उसकी अभिव्यंजना-पद्धति और उसकी भाषा-शैलो आदि की दृष्टि से किया जा सकता है और ये सभी उस कृति के स्वरूप को उद्भाषित करने में सहायक होते हैं। आलोचना को विभिन्न पद्धतियों और दृष्टिकोणों के समर्थकों में से एक वर्ग इनमें से किसी एक को अधिक महत्वपूर्ण मानता है तो दूसरा वर्ग किसी दूसरे पक्ष को। अध्येता जब भाषावैज्ञानिक विश्लेषण पद्धतियों का अनुप्रयोग करते हुए किसी साहित्यिक कृति का विश्लेषण करता है तो ऐसी अध्ययन-पद्धति को शैलीवैज्ञानिक अध्ययन कहा जाता है। यद्यपि इस प्रकार के अध्ययन की परंपरा पाश्चात्य देशों में पहले से चली आ रही है पर आधुनिक भाषाविज्ञान, विशेषतः संरचनात्मक भाषाविज्ञान, ने इसे विशेष रूप से प्रभावित और संवलित किया है। भारतीय काव्यशास्त्र में रीति संप्रदाय की मान्यताएँ इससे सर्वाधिक मिलती जुलती हैं। इसीलिए कुछ समीक्षक शैलीविज्ञान के स्थान पर रीतिविज्ञान शब्द का प्रयोग भी करते हैं। हिंदी की साहित्यिक आलो-चना की परंपरा अभी तक इस प्रकार की विश्लेषण पद्धति से लगभग अछूती सी रही है। साहित्यिक कृति को समझने के लिए इस प्रकार के दृष्टिकोण की महत्ता तथा उपादेयता को स्वीकार करते हुए केंद्रीय हिंदी संस्थान ने ई. 1970 में प्रो० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव से "शैलीविज्ञान और आलोचना की नयी भूमिका" विषय पर प्रसार व्याख्यान देने के लिए अनुरोध किया था और उनके व्याख्यानों के लिखित रूप को प्रकाशित भी किया था। इस प्रकाशन ने हिंदी में शैलीवैज्ञानिक अध्ययन का सूत्रपात किया और इसके फलस्वरूप तत्संबंधी सैद्धांतिक तथा प्रायोगिक विचार-विमर्श प्रारंभ हुआ। तब से आज तक शैलीविज्ञान के साहित्यिक और व्यावहारिक पक्ष पर लगभग एक दर्जन पुस्तकें निकल चुकी हैं। इसके अलावा हिंदो के विभिन्न साहित्य-कारों एवं विभिन्न साहित्यिक कृतिओं के शैलीवैज्ञानिक अध्ययन शोध प्रबंध के रूप में अथवा स्वतंत्र ग्रंथों के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। प्रो० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव इस क्षेत्र में बराबर कार्य करते रहे हैं और हाल ही में प्रकाशित उनका ग्रंथ "संरचनात्मक

शैलीविज्ञान'' उनके इस सतत् विश्लेषण-चिंतन का परिणाम है। इस सब के बावजूद इस युगांतरकारी रचना का महत्व आज भी अक्षुण्ण है। यह इसलिए ही नहीं है कि इसने शैलीवैज्ञानिक चिंतन और विश्लेषण का प्रारंभ किया, वरन् इसलिए भी है कि इसमें चर्चित और उद्‌घाटित कई विषयों और समस्याओं पर अब भी विचार किये जाने की आवश्यकता बनी हुई है। यह ग्रंथ काफी समय से अनुपलब्ध हो गया था। इसके महत्व और इसकी माँग को ध्यान में रखते हुए संस्थान ने इसका पुनर्संस्करण करने का निर्णय किया है। प्रो० श्रीवास्तव ने इस संस्करण की भूमिका के रूप में पिछले दस-ग्यारह वर्षों में इस क्षेत्र में हुए विकास का एक संक्षिप्त विवरण दिया है। इसके अतिरिक्त परिशिष्ट के रूप में एक नया लेख ''कला और संरचनात्मक तुष्टि'' भी जोड़ दिया गया है जो प्रो० श्रीवास्तव के द्वारा इस क्षेत्र में किये जाने वाले चिंतन का परिचायक है।

मुझे विश्वास है कि इस ग्रंथ का यह द्वितीय संस्करण न केवल उतना ही महत्वपूर्ण और उपादेय सिद्ध होगा जितना कि प्रथम संस्करण, वरन् हिंदी आलोचना के क्षेत्र में इसका उससे भी अधिक व्यापक प्रभाव पड़ेगा।

(बाल गोविन्द मिश्र)
निदेशक

अनुक्रम

शैलीविज्ञान : कुछ तथ्य : कुछ कथ्य

(द्वितीय संस्करण की भूमिका)

केंद्रीय हिंदी संस्थान के तत्वावधान में आयोजित 'प्रसार व्याख्यान माला' के अंतर्गत फरवरी 1970 में शैलीविज्ञान पर मैंने जो तीन व्याख्यान दिए थे, उसे संस्थान ने 'दशाब्दी ग्रन्थ प्रकाशन' की पहली कड़ी के रूप में 1972 में प्रकाशित किया। इस पुस्तक के लिए न केवल उत्तर प्रदेश सरकार ने लेखक को पुरस्कार देकर सम्मानित किया, बल्कि विभिन्न विश्वविद्यालयों ने भाषा और साहित्य के क्षेत्र में शोध के लिए इसे संदर्भ ग्रंथ के रूप में स्वीकार कर मुझे प्रोत्साहित भी किया। पर सम्मान और स्वीकृति आज के पद-लोलुप समाज और प्रभुता संपन्न शिक्षित वर्ग की सदस्यता के लिए भले ही 'प्रमाण पत्र' का काम करती हो, पर उनसे लेखक को आत्म-तोष नहीं मिलता। संतोष का अनुभव लेखक को तब होता है जब उसका लेखन दूसरों के लिए 'कुछ और' लिखने को प्रेरित करता है, उसके विचार सहयोगी विद्वानों में चर्चा का विषय बनते हैं, उसकी मान्यताएँ परंपरित मूल्यों से टकराहट का कारण बनती हैं, और सबसे ऊपर उसकी कही हुई बात की संपुष्टि या खंडन के रूप में विचार-वितर्क के लिए एक पूरा वर्ग ही उठ बैठता है।

कहना न होगा कि इस पुस्तक पर जिस प्रकार की प्रतिक्रिया मिली और इसमें प्रतिपादित सिद्धांतों एवं मान्यताओं को लेकर पक्ष-विपक्ष में जो भी चर्चा उठाई गई, वह मेरे शिक्षा-संस्कार को सबसे अधिक छूती रही हैं। एक ओर रहे हैं मेरे सहयोगी मित्र—डा० सुरेश कुमार, डा० कृष्ण कुमार शर्मा, डा० भोलानाथ तिवारी, डा० कृष्ण कुमार गोस्वामी, डा० पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु' आदि जिन्होंने इस विषय को अपने लेखन द्वारा विस्तार और गहराई दी है, और दूसरी तरफ रहे हैं मेरे शोध छात्र—रविन्दर गर्गेश, बिशन सिंह यादव, विजयप्रसाद शर्मा, सुदर्शन कुमार चोपड़ा, विभा गुप्ता, अबुल हसन आदि, जिन्होंने मेरी मान्यताओं से सीधे टकराकर उनमें नया संदर्भ भरने का प्रयास किया है। विधा के धूप-छाँव की संधि-रेखा पर खड़े होकर मेरे आदरणीय और हिंदी आलोचना को गतिमान बनाने वाले सुधी आलोचक डा० नगेन्द्र, डा० नामवर सिंह, डा० बच्चन सिंह, डा० रमेश कुन्तल मेघ, डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, डा० परमानन्द श्रीवास्तव आदि ने अपने लेख, पुस्तक और विभिन्न गोष्ठियों में दिए गए भाषणों से मुझे बार-बार शैलीविज्ञान संबंधी

मान्यताओं को भीतर से देखने को बाध्य किया है। 'आलोचना' में प्रकाशित 'साहित्यिक शैलीविज्ञान' विषयक लेखमाला के अंतर्गत तीन लेखों (1977 क, ख और ग) के विचार-परिवृत्त के केंद्र में इन विद्वानों की विचारोत्तेजक टिप्पणियाँ ही रही हैं। इन तीनों निबंधों का अभिविन्यास, 'शैलीविज्ञान क्या नहीं है' के प्रश्न को लेकर है। पर सबसे अधिक मुझे मान के अनुभव का अवसर दिया है सर्जनात्मक समीक्षा के प्रतिपादक मान्यवर विद्यानिवास मिश्र ने, जिन्होंने 'पारिभाषिकता' से बचते हुए सुकुमारमति शोध छात्र-छात्राओं को शैलीविज्ञान की ओर अभिमुख करने के लिए मेरी पुस्तक की प्रतिक्रिया में एक पूरी पुस्तक की ही रचना कर दी। उन्हीं के शब्दों में "शास्त्रीय स्थापना के रूप में 'शैलीविज्ञान' नाम की पुस्तक मेरे स्नेहभाजन मित्र डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने अभी हाल में प्रकाशित की है, वे मेरी पद्धति को संकोच-वश संस्कृतभावित कहकर उपचरित आदर देते हैं, मेरी पद्धति से सहमत नहीं, यह भली भाँति जानता हूँ, पर उनकी शास्त्रीय स्थापना की प्ररोचना के रूप में ही मैंने इन निबंधों को ग्रंथित किया है।" (मिश्र, 1973:9)।

+ + +

"शैलीविज्ञान की भूमिका" के रूप में प्रकाशित इसके प्रथम संस्करण (1972) और आज प्रकाशित होने वाले उसके दूसरे संस्करण (1980) के बीच के आठ वर्षों में शैलीविज्ञान पर काफी कुछ लिखा गया है। सच तो यह है, कि हिंदी आलोचना की एक नई धारा के रूप में शैलीविज्ञान पर इतनी पुस्तकें, इतने लेख और इतने शोध-प्रबंध लिखे जा चुके हैं कि इसके विभिन्न प्रयोगों एवं संदर्भों के आधार पर इसकी सही प्रकृति को समझना अब असंभव-सा हो गया है। विचारधारा को सैद्धांतिक मान्यता और तकनीकी विश्लेषण-प्रणाली के रूप में विकसित और प्रतिष्ठित करने के बजाय इसके समर्थकों ने अपने अतिरिक्त उत्साह में इसको एक आंदोलन का रूप दे देना चाहा। आंदोलन की प्रवृत्ति फैलाव और बिखराव का कारण बनती है, वह हमारी आवश्यकता का उद्घोष तो बनती है पर हमारी सार्थकता का वह हमेशा व्यंजक हो—यह आवश्यक नहीं। आंदोलन के रूप में जिन्होंने भी आलोचना की इस धारा को अपनाया, उन्होंने 'क्रिया-प्रतिक्रिया' के दायरे के भीतर अपने को बाँधकर ही इस पर बात करनी चाही। परिणाम भी स्पष्ट है—कुछ ही समय के भीतर शैलीवैज्ञानिक अध्ययन, आलोचना की स्वस्थ परंपरा की दिशा से विमुख होकर 'आलोचनात्मक भंगिमा' और 'समीक्षात्मक वाग्मिता' का पर्याय बनने लगा। पर जिन विद्वानों ने अपने को ज्ञान-विज्ञान, के अन्य क्षेत्रों से जोड़कर साहित्यिक अध्ययन के एक प्रारूप (model) और प्रणाली (method) के रूप में इस आलोचनात्मक धारा को विकसित करने का प्रयास किया, उन्होंने इसकी 'सार्थकता' पर प्रकाश भी डाला है और साहित्यिक आलोचना को संक्रियात्मक (operational) रूप भी दिया है।

यह तथ्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि गत एक दशक में हिंदी अध्ययन का एक बहुत बड़ा अंश शैलीविज्ञान से संबद्ध रहा है। इस दौरान इस विषय पर संख्या

में लगभग 15 पुस्तकें, 100 से ऊपर निबंध और 25 से ऊपर शोध-प्रबंध लिखे गए, अखिल भारतीय स्तर पर 5 संगोष्ठियों और एक ग्रीष्मकालीन कार्यगोष्ठी का प्रभावशाली ढंग से आयोजन हुआ। पुस्तकों में विद्यानिवास मिश्र (1973); कृष्णकुमार शर्मा (1974, 1975, 1978 क, 1978 ख), नगेन्द्र (1976), सुरेश कुमार और रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव (संपादित; 1976), पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु (1976), सुरेश कुमार (1977), भोलानाथ तिवारी (1977), किरण बाला (1978), सत्यदेव चौधरी (1979), रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव (1979) ध्यान देने योग्य हैं। जिन व्यक्तियों के निर्देशन में शैलीविज्ञान विषयक शोध प्रबंध लिखे गए हैं, उनमें से कुछ नाम हैं—विद्यानिवास मिश्र (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी), रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव (भाषाविज्ञान विभाग) और भोलानाथ तिवारी (हिंदी विभाग) दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, शीतांशु (गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर), एच० एस० गिल (भाषाविज्ञान विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला), हरदेव बाहरी (इलाहाबाद विश्वविद्यालय), कृष्ण कुमार शर्मा (उदयपुर विश्वविद्यालय), परमानन्द श्रीवास्तव (गोरखपुर विश्वविद्यालय)। इसके अतिरिक्त मेरठ विश्वविद्यालय, पूना विश्वविद्यालय, जयपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर विश्वविद्यालय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय आदि के हिंदी विभाग में इस विषय पर लिखे शोध-प्रबंधों पर डॉक्टरेट की उपाधि दी गई हैं।

इन विभिन्न पुस्तकों और शोध प्रबंधों की समीक्षात्मक दृष्टि, विषय आकलन और विश्लेषण तकनीक पर अगर ध्यान दिया जाए, तो यह कहना कठिन है कि इनमें से कितने अध्ययन शैलीवैज्ञानिक आलोचना की अपनी परिधि के भीतर आते हैं और कितने उसके बाहर। कुछ विद्वानों ने तो शैलीविज्ञान को भारतीय काव्यशास्त्र की पुनर्व्याख्या के लिए हेतु मात्र माना है। उदाहरण के लिए डा० चौधरी ने अपनी पुस्तक (1979) में शैलीविज्ञान के जो बहुविध तत्व संस्कृत के टीका-साहित्य में विशेषत: और काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में सामान्यत: बिखरे पड़े थे, उन पर प्रकाश डाला है। डा० नगेन्द्र (1976) ने भी शैलीविज्ञान की 'विवेक-सम्मत नवीन उद्भावनाओं का स्वागत करते हुए, परंपरा-विशेषकर भारत की समृद्ध काव्यशास्त्रीय परंपरा के संदर्भ में ही उनका आकलन किया है।' चाहे डा० चौधरी हों या डा० नगेन्द्र, इनकी सैद्धांतिक आस्था जिस संस्कार को लेकर चलती है उसकी जड़ें शैलीवैज्ञानिक आलोचना की अपनी परिधि में न होकर उसके बाहर हैं। वे उसका मूल्यांकन 'वह' की शैली में करते हैं, प्रवाह के बीच जाकर या उसमें तैर कर नहीं अपितु किनारे पर खड़े होकर वे आलोचना की इस धारा पर अपनी उक्तियाँ देते हैं। ऐसे आलोचक शैलीविज्ञान के क्षेत्र, उसके अपने दृष्टिकोण, आलोचनात्मक उपकरण, साहित्यिक अध्ययन की नई विकसित तकनीक आदि पर प्रकाश डालने के बजाय उसकी कुछेक उद्भावनाओं को अपनी ही मान्यताओं की पुनर्व्याख्या का साधन बनाते हैं।

एक बात और भी है। शैलीविज्ञान, शास्त्र (discipline) के रूप में साहित्य के अध्ययन-विश्लेषण के लिए जिस 'स्कॉलरशिप' की अपेक्षा रखता है, उसमें 'सौंदर्य-शास्त्र' और 'काव्यशास्त्र' के ज्ञान के साथ-साथ 'भाषाशास्त्र' की जानकारी भी अपेक्षित है। एक विद्वान के अनुसार 'संरचनावाद' और 'शैलीविज्ञान' ऐसे 'वादों' को तो संस्कृति एवं साहित्य के अध्ययन के निमित्त अपनाए जाने वाले उन सभी 'प्रणालीगत आंदोलनों' तक सीमित कर देना चाहिए जो अपने प्रारूप (model), प्रणाली (method) और तकनीक (technique) के अभिविन्यास (orientation) और विकास के लिए प्रमुख शक्ति-स्रोत के रूप में भाषाविज्ञान को स्वीकार करते हैं (बार्थ 1967)। सवाल यह है कि हिंदी में शैलीविज्ञान पर पुस्तक लिखने वालों में कितने विद्वानों में आधुनिक भाषाविज्ञान की गहरी पकड़ है ! शैलीविज्ञान पर आधिकारिक ढंग से बात करने वाले एक विद्वान की पुस्तक में लांग (langue) के लिए 'सामान्य भाषा', डिस्कोर्स (discourse) के लिए 'संदर्भ-भाषा', पैरा डिग्मैटिक (paradigmatic) और सिण्टाग्मेटिक (syntagmatic) रिलेशन्स के लिए क्रमशः 'संदर्भगत' और 'संरचनागत' संबंध-विधान ऐसे संकल्पनात्मक शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो न केवल भ्रामक हैं बल्कि भाषाविज्ञान की प्रचलित और मान्य धारणाओं के विरोध में है। इसी प्रकार एक अन्य विद्वान ने 'प्रयुक्ति' (register) की संकल्पना पर चर्चा करते हुए लिखा है—'भाषा के वे रूप जो अपने बाह्‌य रूप के कारण एक दूसरे से भिन्न होते हैं, शैलीविज्ञान के अंतर्गत 'रजिस्टर' कहलाते हैं। संभवतः उन्हें यह नहीं मालूम कि 'रजिस्टर' की संकल्पना भाषाविज्ञान की है न कि शैलीविज्ञान की। इसे तो जानकारी का अभाव कहा जा सकता है, पर ऐसी व्याख्यात्मक धारणा के लिए क्या कहा जाए, जो अर्थ का ही अनर्थ कर दे। उदाहरण के लिए, उसी विद्वान का यह कहना है—"नगरों में सुशिक्षित और अल्पशिक्षित लोगों की भाषा में अंतर रहता है और ग्रामीण लोगों की भाषा इन सबसे भिन्न होती है। इसी प्रकार एक पेशे की भाषा दूसरे पेशे के लोगों की भाषा से भिन्न होती है—भाषा के ये सब रूप 'रजिस्टर' कहाते हैं।....इसी प्रकार भाषा के व्याकरणिक आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के वाक्य भी 'रजिस्टर' कहाते हैं, जैसे—He goes वाक्य एक रजिस्टर है, तो He is going वाक्य एक अन्य रजिस्टर है। यही स्थिति पद अथवा शब्द तथा ध्वनि के स्तर पर भी स्वीकार की जा सकती है।" भाषाविज्ञान के क्षेत्र में प्रचलित सामान्य संकल्पनाओं की सामान्य जानकारी भी अगर आलोचक को न हो और फिर भी वह शैलीविज्ञान के क्षेत्र में पुस्तक लिखने को उद्यत हो उठे, यह हिंदी आलोचना के क्षेत्र में ही संभव है।

+ + +

यह पुस्तक शैलीविज्ञान की 'भूमिका' के रूप में लिखी गई थी। 'भूमिका' होने के कारण वह आलोचना की इस नई धारा का संदर्भ-मात्र थी। उसकी व्याप्ति शैलीवैज्ञानिक चिंतन और उसकी प्रणाली पर प्रकाश डालने तक सीमित

थी । अतः उसमें मेरा प्रयास केवल यह दिखलाने का रहा था कि किस प्रकार शैलीविज्ञान, आलोचना की एक नई धारा के रूप में वस्तुपरक चिंतन, भाषावादी दृष्टिकोण और वैज्ञानिक तकनीक पर आग्रह रखते हुए साहित्यिक अध्ययन के लिए एक नई भूमिका का निर्वाह कर रहा है; कैसे वह आलोचना का सिद्धांत भी है और अध्ययन की प्रणाली भी । किसी कविता या गद्यांश का विश्लेषण अगर उसमें कहीं किया भी गया था तो वह या तो किसी सैद्धांतिक मान्यता के स्पष्टीकरण के लिए था अथवा तकनीक की वैज्ञानिकता की सिद्धि के लिए । वहाँ कविता की शैलीवैज्ञानिक व्याख्या के पीछे एक उद्देश्य यह भी रहा था कि जिन संक्रियात्मक (operational) उपकरणों का शैलीविज्ञान सहारा लेता है वे सिद्धांत के साथ-साथ प्रयोग के धरातल पर भी स्पष्ट हो जाएँ । केदारनाथ सिंह की प्रसिद्ध कविता 'अनागत' की शैलीवैज्ञानिक व्याख्या इसी रूप में वहाँ की गई थी जिसके लिए डा० बच्चन सिंह का कथन है कि 'श्रीवास्तव की व्याख्याओं पर शैलीविज्ञान के फ़ार्मूले बुरी तरह हावी हैं । इनमें गणितीय और बीजगणितीय तालिकाओं की भरमार है जो मूल्यपूरक नहीं हैं ।' 'उन्हें खेद है कि इस शैलीवैज्ञानिक व्याख्या में रायल साइज़ के बारह पृष्ठ खर्च किए गए हैं ।'

जहाँ तक पृष्ठों का प्रश्न है, उसके लिए कुछ कहना व्यर्थ है क्योंकि डा० बच्चन सिंह ऐसे योग्य आलोचक बिहारी के एक-एक दोहे पर दस नहीं पंद्रह पृष्ठ तक खर्च कर चुके हैं जबकि उनकी आलोचनात्मक व्याख्या में न तो सिद्धांत को उजागर करने की अनिवार्यता रही है और न ही प्रणाली और तकनीक को स्पष्ट करने की अपनी विवशता । पर इसके साथ यह भी पूछा जा सकता है कि क्या संक्रियात्मक उपकरण अपने में मूल्यपरक होते भी हैं ? साथ ही साहित्य के जिस 'सौंदर्य पक्ष' और कविता के जिस 'अबौद्धिक कथ्य' के उद्घाटन की बात आलोचक करना चाहता है, उसको समझने-पकड़ने का रास्ता क्या है ? काव्य प्रक्रिया के संदर्भ में अकसर यह कहा जाता है कि कवि बौद्धिक संकल्पना के पार जाकर 'लयात्मक' प्रत्यय का सृजन करता है और यह सृजनात्मक प्रक्रिया उसकी 'चमत्कारपूर्ण' प्रातिभ का परिणाम है । यह उसकी 'अलौकिक' प्रतिभा का ही परिणाम है कि वह एक ही 'छलांग' में बौद्धिक से अबौद्धिक की दूरी तय कर लेता है, अपने प्रतिभ ज्ञान के आधार पर ही 'वस्तुओं' के पार जाकर उसकी आंतरिक प्रकृति के रहस्य का पता लगा लेता है । क्या आलोचक का यह धर्म नहीं कि वह इस तथ्य पर भी प्रकाश डाले कि किस प्रकार काव्य की सृजनात्मक प्रक्रिया में बौद्धिक संकल्पना का सौंदर्यपरक लयात्मक प्रत्यय में रूपांतरण हो जाता है । यहाँ स्पिट्ज़र (1962 : 142) के इस कथन को दुहराना चाहूँगा कि 'कविता के अबौद्धिक पक्ष भाषावैज्ञानिक (शैलीवैज्ञानिक) आलोचक के हाथों अपनी सत्ता खो नहीं देते अथवा उनके हाथों उनका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता । इसके ठीक विपरीत वह कवि के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए कार्य करेगा (यह बात दूसरी है कि वह कवि स्वीकृति की अपेक्षा नहीं रखेगा ।) और धैर्यपूर्वक विश्लेषणात्मक पद्धति का सहारा लेते हुए उस पथ को

ढूँढ़ने का प्रयत्न करेगा जो बौद्धिक से अबौद्धिक की ओर कविता को ले जाता है और जिस दूरी को कवि अपनी एक छलांग में ही तय कर लेता है।' डा० बच्चन सिंह ऐसे आलोचकों की शैलीविज्ञान तथा काव्यविश्लेषण की प्रक्रिया पर दी गई उक्तियों के संदर्भ में केवल इतना ही कह सकता हूँ कि वे आलोचना को भी या तो 'अंतर्ज्ञान प्रातिभज्ञान' (intuition) की वस्तु मानते हैं अथवा उसे 'साहित्य के इतिहास' का एक अंग। वे उसे 'साहित्य के विज्ञान' के रूप में देखने के न तो अभ्यस्त हो पाए हैं और न ही संभवतः उसके वे समर्थक ही हैं। और जैसा संरचनावादी आलोचक 'बार्थ' का कहना है—'हमारे पास इस समय साहित्य का इतिहास है न कि साहित्य का विज्ञान, क्योंकि हमने साहित्यिक 'वस्तु' की प्रकृति को पूरी तरह से समझा ही नहीं जो अपनी मूल प्रकृति में लिखित होती है।' (बार्थ 1979 : 13) शैलीविज्ञान, 'साहित्य का विज्ञान' है—इस बात को बार-बार मैंने पुस्तक में ध्वनित करने का प्रयास किया है बल्कि मैंने तो इससे आगे बढ़कर यह भी कहना चाहा है कि सृजनात्मक प्रक्रिया के संदर्भ में विज्ञान और कविता समान हैं और उनके अंतर का मूलाधार इन दोनों की अभिव्यक्ति पद्धति है।

'शैलीविज्ञान की भूमिका' के प्रकाशन के बाद जो बहस छिड़ी, उससे बात कुछ खुल कर आ ही रही थी कि कई विद्वानों ने इस पर न केवल पुस्तकें लिखने का काम प्रारंभ कर दिया बल्कि उस पर डॉक्टरेट उपाधि के लिए शोध-निर्देशन का उत्तरदायित्व भी ले लिया, बिना यह ध्यान दिए कि शैलीविज्ञान के वस्तुपरक चिंतन, भाषावादी दृष्टि, संक्रियात्मक प्रणाली और विश्लेषणात्मक तकनीक की प्रकृति क्या है? उन्होंने शैलीविज्ञान को कभी 'भाषावैज्ञानिक अध्ययन' का पर्याय बना दिया और कभी 'कथ्य से असंपृक्त रूप' की विवेचना का समानार्थी घोषित कर दिया। स्वाभाविक था, ऐसी विरूपित दृष्टि पर आक्षेप उठें, उसकी कटु आलोचना की जाए और उसकी खंडित रूपवादी दृष्टि को शंका की दृष्टि से भी देखा जाए। पर शैलीविज्ञान पर जो भी आक्षेप लगाए गए, वे आलोचकों की भ्रांतिपरक दृष्टि के ही परिणाम थे, भले ही उन भ्रांतियों को जन्म देने में एक बहुत बड़ा हाथ अध-कचरे शैलीवैज्ञानिकों का ही क्यों न रहा हो। इस द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के समय उन कुछेक भ्रांतियों की ओर संकेत दे देना चाहूँगा, जो शैलीविज्ञान की सही प्रकृति को न समझने के कारण पैदा हुई हैं।

भ्रांति 1 : शैलीविज्ञान, साहित्य के भाषिक विधान का रूपात्मक (formal) व्याकरण है।

इस प्रकार की भ्रांति ही आलोचकों को यह लिखने के लिए बाध्य करती रही है कि 'शैलीविज्ञान एक ऐसा अनुशासन है जो केवल साहित्य की भाषा का अध्ययन करता है।' 'शैलीविज्ञान मुख्यतः व्याकरणिक होता है' और 'शैलीविज्ञान का कार्य है—काव्य के बाह्‌य रूप—शब्दार्थ का विश्लेषण-परीक्षण।' ऐसी ही भ्रांति-पूर्ण धारणाओं के आधार पर ऐसे शोध-प्रबंध भी लिखे गए—'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की

भाषा का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन', 'अज्ञेय की काव्यभाषा का शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण' आदि। इसी दृष्टि का परिणाम है कि शैलीविज्ञान के भीतर ध्वनि, अक्षर, शब्द, रूप, पदबंध, उपवाक्य, वाक्य तथा उनके सांख्यिक अनुपात आदि का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर वैज्ञानिक आलोचना की इति समझ ली जाती है। डा० भोलानाथ तिवारी ने तो कुछ कदम आगे बढ़ाकर शैलीविज्ञान की निम्नलिखित शाखाएँ भी मान ली हैं—वाक्यीय शैलीविज्ञान, रूपीय शैलीविज्ञान, शब्दीय शैलीविज्ञान, ध्वनीय शैलीविज्ञान तथा अर्थीय शैलीविज्ञान।

वाक्य या उससे नीचे स्तर की भाषिक इकाइयों के अध्ययन के आधार पर किसी कृति में प्रयुक्त भाषा के अध्ययन का क्षेत्र वस्तुतः भाषावैज्ञानिक अध्ययन है न कि शैलीवैज्ञानिक। भाषावैज्ञानिक विश्लेषण, शैलीवैज्ञानिक अध्ययन के लिए सहायक तो होता है, पर वह स्वयं में शैलीवैज्ञानिक नहीं होता। भाषावैज्ञानिक शैलीविज्ञान (!) वाक्य के सामान्य भाषावैज्ञानिक अध्ययन से केवल इस अर्थ में भिन्न होता है कि इसकी विवेच्य सामग्री सामान्य बोलचाल की भाषा न होकर साहित्य में प्रयुक्त भाषा-सामग्री होती है। वाक्य के स्तर पर किसी साहित्यिक कृति की भाषा के होने वाले विश्लेषण को भाषावैज्ञानिक अध्ययन कहा जाता है जिसे 'हिल' ने शैलीविज्ञान का पूर्वापेक्षा अध्ययन (pre-stylistics) कहा है।

शैलीवैज्ञानिक अध्ययन का भाषाविज्ञान से बहुत गहरा संबंध है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह भाषावैज्ञानिक विश्लेषण का पर्याय है। शैलीविज्ञान, अपने प्रारूप, प्रणाली और तकनीक के लिए भाषाविज्ञान का हमेशा मुखापेक्षी रहता है, पर उसका मुख्य उद्देश्य वाच्य (कथ्य) और वाचक (अभिव्यक्ति) के संबंधों के अध्ययन के आधार पर कलाकृति में निहित सौंदर्योन्मुखी ऐंद्रिय संवेग का उद्घाटन है, न कि भाषिक विधान के आधार पर भाषिक सिद्धांत का निरूपण और विवेचन। उद्देश्य और प्रारूप के अंतर को ठीक से न समझने के कारण ही शैलीवैज्ञानिक अध्ययन और भाषावैज्ञानिक विश्लेषण को आलोचक बहुधा एक मान लेते हैं।

जिस प्रकार साहित्य की संश्लिष्ट और सर्जनात्मक प्रक्रिया को देखने के लिए मनोविज्ञान प्रधान आलोचना या मार्क्सवादी आलोचना है, उसी प्रकार शैलीविज्ञान को भी साहित्यिक आलोचना की एक दृष्टि समझना चाहिए। कम से कम 'शैलीविज्ञान की भूमिका' में इसे इसी रूप में रखा गया है। "शैलीविज्ञान भी अन्य आलोचनात्मक दृष्टियों की तरह साहित्य को समझने-समझाने की एक दृष्टि है जो 'शैली' के साक्ष्य पर एक ओर साहित्यिक कृति की संरचना (structure) और गठन (texture) पर प्रकाश डालती है और दूसरी ओर कृति का विश्लेषण करते हुए उसमें अंतर्निहित 'साहित्यिकता' का उद्घाटन करती है।

भ्रांति 2 : शैलीविज्ञान की आलोचनात्मक दृष्टि संकुचित और एकांगी है क्योंकि वह रचना के मात्र भाषिक पक्ष का अध्ययन करती है।

शैलीविज्ञान की सही प्रकृति को न समझने वाले आलोचक यह मानते हैं कि आलोचना की यह धारा काव्यगत भाषिक विवेचना के अर्धवृत्त पर ही रुककर रह जाती है। कुछ आलोचकों के अनुसार शैलीविज्ञान, काव्यकृति को उसकी संपूर्णता में न ग्रहण कर उसकी भाषिक सामग्री तक ही चुक जाता है।

ऐसे विद्वान यह भूल जाते हैं कि शैलीविज्ञान, व्याख्या और विश्लेषण के कुछ स्तरों की ओर संकेत देता है। शैलीविज्ञान, शाब्दिक प्रतीक के रूप में सिद्ध कलाकृति की इकाई के विश्लेषण के लिए कम से कम निम्नलिखित तीन स्तरों की संकल्पना को सामने लाता है—

स्तर 1 : कला सामग्री का स्तर : वाक्य प्रतीक : वाक्य : संकेतार्थ

स्तर 2 : कला माध्यम का स्तर : कला में प्रतीक : प्रोक्ति : संपृक्तार्थ

स्तर 3 : कला प्रतीक का स्तर : कला प्रतीक : कृति : काव्यार्थ

कला-सामग्री स्तर पर जो अध्ययन होता है उसका संबंध काव्यकृति में प्रयुक्त भाषा के विश्लेषण से है जो भाषावैज्ञानिक अध्ययन का तो महत्तम स्तर है पर शैलीविज्ञान के लिए 'प्रिस्टाइलिस्टिक्स' है। कला-माध्यम स्तर पर जो अध्ययन होता है उसका संबंध उन साहित्यमूर्तियों से होता है जो कृति के उपांग रूप में संपृक्तार्थ (connative meaning) के व्यंजक होते हैं। पर शैलीविज्ञान केवल साहित्यिक मूर्तियों का ही अध्ययन नहीं करता। वह केवल छंद, अलंकार, मेटाफ़र, कथा-विन्यास, चरित्र-गठन आदि के अध्ययन तक ही अपने को सीमित नहीं करता, जो सामान्यतः साहित्यिक आलोचना की विषयवस्तु है। शैलीवैज्ञानिक अध्ययन का साध्य वस्तुतः कला-प्रतीक के रूप में सिद्ध पूर्ण कृति है। शैलीवैज्ञानिक, अंततः काव्यकृति की संरचना और उसमें आबद्ध काव्यसंसार का उद्‌घाटन करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि शैलीविज्ञान, काव्यगत भाषिक विवेचन के अर्धवृत्त पर ही नहीं रुक जाता बल्कि अपने अध्ययन में उसके संपूर्ण वृत्त को समेट कर चलता है।

भ्रांति 3 : शैलीविज्ञान, सौंदर्य के भाषिक रूप मात्र (शाब्दिक सौंदर्य) का अध्ययन करता है और उसका व्याकरण साहित्य के अलौकिक सौंदर्य का उद्‌घाटन करने में अक्षम है।

सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में विचार करते समय कुछ आलोचकों का यह आक्षेप है कि शैलीविज्ञान जब 'शाब्दिक कला' के रूप में किसी कृति को देखता है उसकी दृष्टि, कृति के बाहरी सौंदर्य तक अटक कर रह जाती है। 'शाब्दिक सौंदर्य' के उद्‌घाटन में वह अपने को 'शब्द लालित्य,' 'शब्द अलंकरण,' 'शब्द क्रीड़ा' के कौतुक भाव तक सीमित कर लेता है। यही कारण है कि उसका पूरा विश्लेषण काव्य-शरीर की चीर-फाड़ तक ही है। उनके मत में वह काव्य-कृति के भीतर से स्पंदित 'कलात्मक संवेग' अथवा 'सौंदर्य के भाव रूप' पर प्रकाश नहीं डालता।

इसमें संदेह नहीं कि शैलीविज्ञान का लक्ष्य कृति के 'शाब्दिक सौंदर्य' का उद्घाटन भी है। पर यह 'शाब्दिक सौंदर्य' है क्या ? निश्चय ही यह 'सौशब्द्य' (सुशब्दता) का पर्याय नहीं। यह तथ्य कम महत्वपूर्ण नहीं कि हर कलाक्षेत्र—चाहे वह संगीत, चित्र, मूर्ति या वास्तुकला हो अथवा भाषा में बँधने की अनिवार्य नियति लेकर प्रतिफलित होने वाला काव्य ही क्यों न हो, सौंदर्य के भाव रूप या कलात्मक संवेग का व्यंजक होता है ; प्रश्न यह है कि क्या साहित्य में व्यंजित होने वाला कलात्मक संवेग, संगीत, चित्रकला आदि से किसी प्रकार भिन्न भी होता है ? भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य की प्राणभूत शक्ति के रूप में जिस 'सौंदर्य' की कल्पना की गई है उसे 'अलंकार' शब्द के द्वारा पकड़ने की कोशिश की गई थी, यथा—

कला : सौंदर्य : सौंदर्यशास्त्र : काव्य : अलंकार : अलंकारशास्त्र

अत: 'भामह' अथवा तथाकथित देहवादी (?) आचार्यों ने जिस अलंकार (शाब्दिक सौंदर्य) की व्यापक व्याख्या की, उसी को परवर्ती साहित्य में भ्रमवश 'अलंकरण' का पर्याय बनाकर संकुचित कर दिया गया।

शैलीविज्ञान, 'शाब्दिक सौंदर्य' की उक्ति द्वारा जिस भाव को व्यंजित करना चाहता है वह है—'भाषाई चेतना पर झेला गया सौंदर्य'। वह अपनी इस धारणा के माध्यम से उस कलात्मक संवेग की ओर संकेत देता है जो भाषाई चेतना पर झेले जाने के बाद अपनी रूप-प्रकृति निर्धारित करता है। अपनी वस्तुवादी दृष्टि के आधार पर वह यह भी कहना चाहता है कि काव्यकृति के मूल में 'ऐंद्रिय संवेग' और 'तरल सौंदर्यानुभूति' नहीं वरन् उसका 'संवेदनात्मक बोध' होता है क्योंकि 'काव्यसंवेदना' मन की अतल गहराइयों से आती कोई अनगूँज पुकार या अनहद नाद के स्तर की वस्तु न होकर मानव चेतना के धरातल पर बोधव्य भाषिक ध्वनि होती है (श्रीवास्तव 1977)। प्राचीन आचार्यों ने जिस प्रकार 'अलंकार' (शाब्दिक सौंदर्य) के आधार पर वार्ता और काव्य, कपित्थ और सुहृदय पाक आदि के अंतर को समझाना चाहा, उसी प्रकार शैलीविज्ञान भी 'शैली' के आधार पर 'विषयवस्तु' (theme-object) और 'काव्य वस्तु' (poetic-object), वाग्मिता (rhetoric) और काव्यात्मकता (poetic) आदि के अंतर को स्पष्ट करता है। अत: कला और काव्य के समसंबंध को इस प्रकार व्यक्त करना संभव है—

कला : सौंदर्य : सौंदर्यशास्त्र
काव्य : अलंकार : अलंकारशास्त्र
शाब्दिक कला : शैली : शैलीशास्त्र (शैलीविज्ञान)।

शैलीविज्ञान में 'शैली' की संकल्पना के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह एक ओर भाषा तथा साहित्य को जोड़ने वाली संकल्पना है (अर्थात् शैली, सहेतुक भाषिक अभिव्यक्ति है) और दूसरी ओर साहित्य और कला को संबद्ध करने वाली अवधारणा है (अर्थात् शैली, कलात्मक संवेग की अभिव्यंजक भाषिक संरचना है)। इसके

साथ यह भी कहा जा सकता है कि शैली की संकल्पना युगीन विचारधारा तथा जीवन और जगत को देखने वाली भाषा-प्रयोक्ता की दृष्टि से संबद्ध है (अर्थात् शैली, काव्यवस्तु के दृश्य और दृष्टि अक्ष का संवाहक भाषिक विधान है)। शैली के इस बहुआयामी पक्ष के अध्ययन के सहारे ही शैलीवैज्ञानिक किसी कृति की संरचना और उसमें आबद्ध काव्य संसार की यथार्थ प्रकृति का उद्घाटन करता है। शैली-विज्ञान मात्र काव्यशरीर की चीर-फाड़ करता है अथवा उसकी दृष्टि केवल 'शब्द लालित्य' तक सीमित है—ऐसे कथन को आलोचकों की एक शोखी-भरी अदा ही समझना चाहिए।

भ्रांति 4 : शैलीविज्ञान की सहायता से कथानक (प्लाट) योजना की जटिलता, क्रमिकता और अन्विति, दिक्-काल की स्थिति आदि का विश्लेषण संभव नहीं।

इस भ्रांति के मूल में यही धारणा रही है कि भाषाविज्ञान, भाषा का अध्ययन करता है और भाषा मात्र अभिव्यक्ति का साधन है। अत: भाषिक तत्वों के अध्ययन से केवल कृति की अभिव्यक्ति का अध्ययन हो सकता है, उसके कथ्य का नहीं। जब कथ्य में फैलाव और गहराई दोनों ही हों तो 'कविता की एक पंक्ति, उस पंक्ति का एक शब्द, उस शब्द का स्थान, परत-दर-परत विश्लेषण 'करने वाला शैलीविज्ञान कहाँ तक काम आ सकता है।' इसलिए आलोचकों ने घोषित करना शुरू किया कि "शैलीविज्ञान की सहायता से 'रामचरितमानस' या 'साकेत' जैसे महाकाव्यों की विवेचना अकल्पनीय है।"

शैलीविज्ञान, जिस 'प्रतीक-सिद्धांत' को अपनाकर चलता है, उसमें 'कथ्य' और 'अभिव्यक्ति' का द्वैत नहीं, और इसीलिए वह किसी कृति के अध्ययन को प्रचलित अध्यापकीय शैली में 'भाव' पक्ष और 'कला' पक्ष के आधार पर खंडित भी नहीं करता। उसके लिए 'प्रतीक' के रूप में सिद्ध कोई भी सार्थक इकाई वस्तुत: कथ्य (signified) और अभिव्यक्ति (signifier) की समन्वित इकाई है। अध्ययन के केंद्र में प्रतीक का एक या दूसरा पहलू (कथ्य या अभिव्यक्ति) नहीं होता, उसके लिए तो उन दोनों की द्वंद्वात्मक स्थिति से उद्भूत प्रकार्य अर्थात् प्रतीकात्मकता (signification) का पता लगाना ही साध्य होता है।

दूसरी बात यह है कि प्रतीक सिद्धांत के संदर्भ में शैलीविज्ञान यह भी कहना चाहता है कि जिस प्रकार भाषिक इकाइयाँ—रूपिम, शब्द या वाक्य, भाषिक प्रतीक हैं, उसी प्रकार महाकाव्य, उपन्यास और कहानी थी, क्योंकि इन विधाओं में भी हम कथ्य और अभिव्यक्ति की अभिन्नता पाते हैं, उनमें भी प्रतीकात्मकता को प्रकार्य (function) रूप में निहित पाते हैं। शैलीविज्ञान में मान्य कथानक विश्लेषण की प्रणाली क्या है और वह किस प्रकार महाकाव्य या उपन्यास का अध्ययन करता है—इसका विवेचन मैंने अपनी दूसरी पुस्तक 'संरचनात्मक शैलीविज्ञान' में किया है।

अब तो इस दिशा में कई शोध प्रबंध भी लिखे जा चुके हैं। स्वयं 'रामचरित मानस' की कथा-योजना की चर्चा करते हुए उसकी संवाद-योजना की प्रकृति, वाग्मिता और साहित्यकता के भेद तथा तथ्य और यथार्थ के अंतर को मैंने स्पष्ट करने का प्रयत्न अन्यत्र अपने एक लेख में किया है (श्रीवास्तव 1977)। महत्वपूर्ण काम कृष्ण कुमार शर्मा ने "गद्य-संरचना" के शैली वैज्ञानिक विवेचन के संदर्भ में भी किया है (शर्मा 1975)। अभी हाल ही में "सत्यनारायण कथा" के शैलीवैज्ञानिक अध्ययन का काम मेरे शिष्य चोपड़ा ने और 'हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों के शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण' का कार्य एक दूसरे शिष्य ब्रिशनसिंह यादव (1979) और भोलानाथ तिवारी (1979) ने संपन्न किया है। आलोचक की अपनी अज्ञानता, आलोचना की किस प्रकार सीमा बन जाती है और विद्वानों की पक्षधर हठवादिता दृष्टि को किस प्रकार एकांगी, धूमिल और एकपक्षी बना देती है, इसका एक नमूना इस प्रकार की भ्रांतिपरक धारणाओं के भीतर देखा जा सकता है।

भ्रांति 5 : शैलीविज्ञान, समाज-विरोधी एक ऐसी "रूपवादी" आलोचना है जिसके संस्कार की जड़ें बुर्जुआ संस्कृति की धरती में हैं।

साहित्य समीक्षकों का एक वर्ग ऐसा है जो यह मानता है कि शैलीविज्ञान की भाषावादी दृष्टि और वस्तुवादी प्रणाली अपनी प्रकृति में समाजविरोधी है क्योंकि वह साहित्य के 'स्वायत्त संसार' की बात करता है, „कविता के प्रश्न को 'उसकी भाषा और बुनावट' में मानता है और 'शैली रूपी औजार' को सार्वभौम स्वीकार करता है। कुछ ऐसे भी उत्साही प्रगतिशील आलोचक हैं जो यह मानते हैं कि शैलीविज्ञान, भले ही वैज्ञानिक प्रणाली का दावा क्यों न करे पर वह मानवतावादी एवं मार्क्सवादी विचारों के विरुद्ध प्रतिगामी विचारों का उद्घोषक है क्योंकि वह 'रूपवाद' को ही साहित्यिक सिद्धांत का आधार बनाता है। ऐसे ही आलोचक यह भी कहते देखे जा सकते हैं कि 'नये समीक्षकों' ने 'कलावाद' की जिस अंधी गुफा में आलोचना को ला पटका, वहाँ से आगे बढ़ने के रास्ते अशेष हो गए,' और उसी के उद्धार के लिए शैली-विज्ञान अपने भाषावैज्ञानिक औजार लेकर मैदान में कूद पड़ा है। अतः इस वर्ग के आलोचकों के अनुसार शैलीविज्ञान, भाषावैज्ञानिक खोजों द्वारा मृतप्राय, 'रूपवाद' को पुनर्जीवित करने का प्रगति विरोधी प्रयास मात्र है (कर्णसिंह चौहान 1978)। इतिहास की जटिल प्रक्रिया, मार्क्सवाद की जीवंत द्वंद्वात्मक पद्धति और वैज्ञानिक निरूपण की अपनी आवश्यकताओं को एक ओर अलग हटाकर ऐसे विद्वान यह लिखते भी पाए गए हैं कि 'जिस 'शैलीविज्ञान' को एकमात्र वस्तुगत प्रतिमान के रूप में उछाला जा रहा है देखना यह भी चाहिए कि वह आधुनिक पूँजीवादी व्यक्तित्ववाद की देन है,' जिस 'शैली' रूपी औजार की बात वहाँ उठाई जा रही है, वह 'मध्यवर्गीय विशिष्टता' के साथ जुड़ी हुई है और 'रूपवाद' की जो बात की जा रही है वह 'पूँजीवादी-साम्राज्यवादी' दौर की 'पण्य वस्तु' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

आलोचना की इस भंगिमा पर कुछ भी लिखा जाए, ऐसे चिंतन से उत्पन्न भ्रांतियों के निराकरण के लिए कुछ भी तर्क क्यों न दिए जाएँ, वे इन आलोचकों द्वारा 'गढ़' के रूप में बनाए गए शीशे से टकरा कर रह जाएँगे। कुत्सित-समाजशास्त्री आलोचना की अपनी यह विशेषता रही है कि अपने सिद्धांत पर वह अडिग रहती है, भले ही ज्ञान-विज्ञान की प्रकृति अपने में विकासमान और परिवर्तनशील ही क्यों न हों। हाँ, यह बात अवश्य है कि इन आलोचकों द्वारा लगाए गए आरोपों ने 'शैली-विज्ञान' की अपनी मान्यताओं को साफ करने में एक हद तक जरूर मदद की है। कुत्सित-समाजशास्त्री आलोचकों द्वारा 'निर्भ्रांत' (?) रीति से उठाए गए अनेक सवालों में से मैं यहाँ केवल तीन पर ही बात करना चाहूँगा, क्योंकि इन्हीं 'तीनों' प्रश्नों के दायरे में उनके द्वारा उठाई भ्रांतियों का निराकरण हो जाता है। ये प्रश्न हैं शैली-विज्ञान और 'कलावाद,' शैलीविज्ञान और 'स्वायत्ततावाद' तथा शैलीविज्ञान और 'रूपवाद'।

(क) कुछ आलोचक प्रायः यह कहते पाए जाते हैं कि शैलीविज्ञान, न केवल काव्यकृति को सामाजिक संदर्भों से काटकर देखने का 'विज्ञान' है बल्कि वह 'कला, कला के लिए' सिद्धांत का समर्थक भी है। 'काव्य' के वस्तु पक्ष की न तो वह बात उठाता है और न ही उसमें निहित 'सामाजिक चेतना' को समझने का रास्ता ही खोलता है। वह तो रचना को उसकी सामाजिक 'सार्थकता' से विच्छिन्न कर 'कला वाद' के जाल में उलझा देने वाली दृष्टि का षड्यंत्र है। ऐसे आलोचक यह भूल जाते हैं कि शैलीविज्ञान, काव्यकृति को जिस 'कलाप्रतीक' के रूप में स्वीकार करता है उसके व्यापक संदर्भ में जहाँ वह रूप से कथ्य के बिलगाव का विरोध करता है, वहीं वह कथ्य से असंबद्ध अभिव्यक्ति-रूप की भी तीखी आलोचना करता है।

शैलीविज्ञान, भाषिक इकाइयों की तरह काव्यजन्य इकाइयों को भी 'प्रतीक' मानता है और चूँकि वह उसे प्रतीक मानता है, वह कथ्य (signified) और अभि-व्यक्ति (signifier) के संबंधों की अभिन्नता भी स्वीकार करता है। वैसे देखा जाए, तो कलाकृति के सृजनात्मक और आलोचनात्मक दोनों ही धरातलों पर हमें तीन स्पष्ट स्थितियाँ देखने को मिलती हैं।

(क) अभिव्यक्ति पक्ष की स्वायत्तता की स्थिति, जहाँ रूपसिद्धि, कथ्य के बिलगाव के साथ देखने को मिलती है। इसे 'कला, कला के लिए' सिद्धांत का आधारभूत दृष्टिकोण कहा जा सकता है।

(ख) कथ्य पक्ष की स्वायत्तता की स्थिति, जहाँ कथ्य या विचार, रूप से असंपृक्त कर सामने पेश किया जाता है। इसे 'कुत्सित-समाजशास्त्री' आलोचनात्मक दृष्टि कहा जा सकता है जो कला प्रतीक को साहित्येतर साधनों का लक्ष्य बनाने की कोशिश करती है।

(ग) कला-प्रतीक की स्वायत्तता की स्थिति, जहाँ कृति को 'प्रतीक' के रूप

में स्वीकार करने के कारण कथ्य और अभिव्यक्ति (रूप) के संबधों की अभिन्नता स्वीकार की जाती है। यह दृष्टि 'रूप' को कथ्य संदेश की यथार्थता को पकड़ने का साधन और 'कथ्य' को अपनी आंतरिक प्रकृति के प्रकाशन के लिए 'रूप' में बँधने की अनिवार्य नियति के संदर्भ में देखती है।

कहना न होगा कि शैलीविज्ञान, (ग) स्थिति को अपना सैद्धांतिक आधार बनाकर (क) अर्थात् अभिव्यक्तिपक्ष और (ख) अर्थात् 'कथ्यपक्ष की स्वायत्तता को मानने वाली आलोचना पद्धति को बाह्य-आलोचना घोषित करना चाहता है। 'कलावाद' और 'विचारवाद' (उपयोगितावाद) दोनों ही काव्येतर दृष्टियाँ हैं जो काव्यदृष्टि के संदर्भ में असंगत और अधूरी हैं। शैलीविज्ञान 'काव्यात्मकता' को 'रूपसिद्धि' के रूप में नहीं देखता (जैसा कि भ्रमवश कुछेक आलोचक मान लेते हैं) बल्कि उसे काव्यकृति के प्रकार्य (function) के रूप में स्वीकार करता है जो किसी साहित्यिक रचना को अन्य साहित्येतर रचनाओं से अलग करने का कारण होता है। उन आलोचकों के लिए क्या कहा जाए, जो 'रूप' की संकल्पना जहाँ भी देखते हैं वहीं 'रूपवाद' की गहरी (और प्रच्छन्न) साजिश महसूस करने लगते हैं। सच तो यह है कि आलोचना को वे दो मुख्य खेमों में बाँटने के अभ्यस्त हैं 'कला, कला के लिए' (कलावाद) और 'कला, समाज को बदलने के लिए' (उपयोगितावाद), अतः शैली-विज्ञान ने जब इस द्विभाजक प्रकृति से भिन्न 'प्रतीक सिद्धांत' की बात उठाते हुए 'रूप' की चर्चा की, तब 'रूप' का नाम देखते ही उन्होंने इसे 'कलावाद' की संज्ञा दे दी।

शैलीविज्ञान ने जिस रूप (form) की बात उठाई, वह मार्क्सवादी चिंतन के विरोध में नहीं है। यह तथ्य रूसी आलोचक लोटमान (1970, 1972) या गालपेरिन (1977) की शैलीविज्ञान पर प्रकाशित पुस्तकों से स्पष्ट है। मार्क्सवादी मान्यता के अनुरूप शैलीविज्ञान की यह मान्यता है कि 'रूप' का संबंध 'कथ्य की प्रकृति' के साथ जुड़ा होता है और रूप की विशिष्टता का मूलाधार कथ्य की अपनी विशिष्टता है। मार्क्सवाद, रूप और कथ्य में द्वंद्वात्मक संबंध देखता है। राल्फ़ फ़ाक्स (1937) के अनुसार रूप, कथ्य (content) का ही एक पक्ष है और एक दृष्टि से वह कथ्य से अभिन्न और 'एकरूप' है। फ्रेडेरिक जेमसन (1971) ने 'मार्क्सवाद और रूप' पुस्तक में यह दिखलाने का प्रयत्न भी किया है कि 'रूप, अधिरचना (super structure) के क्षेत्र में कथ्य का ही एक रूपांतरण है। (Form itself is but the working out of content in the realm of the super-structure.)

पर रूप-कथ्य की इस अभिन्नता और उसकी द्वंद्वात्मक गत्यात्मकता को जो आलोचक मानकर नहीं चलते, उनके दो भिन्न-भिन्न रूप देखने को मिलते हैं। एक तो वे हैं—जो 'कलावाद' का प्रच्छन्न रूप से सहारा लेते हुए यह कहना चाहते हैं कि 'कथ्य तो रूप का मात्र एक प्रकार्य (function) है।' रूसी रूपवादी

आलोचकों में कुछेक इसी मत को मानने वाले थे। दूसरे, वे 'कुत्सितसमाजशास्त्री' आलोचक हैं जो यह समझते हैं कि रूप (form) केवल कलात्मक अभिकरण है जिसे प्रगतिविरोधी साहित्यकार क्रांतिकारी विचारों से संयुक्त कथ्य को हल्का करने या छुपाने के साधन के लिए अनजाने ही अपनाता है। क्रिस्टाफ़र काडवेल के साहित्य-सिद्धांत इसके उदाहरण हैं। काडवेल ऐसे कुत्सित समाजशास्त्री आलोचक यह भूल जाते हैं कि जिस प्रकार सामाजिक व्यवस्था, अपनी विषयवस्तु (सामाजिक संबंध) के आंतरिक तर्क पर आधारित रहती है उसी प्रकार काव्य-व्यवस्था भी अपने कथ्य पक्ष की भीतरी प्रकृति की व्यंजक होती है। जार्ज ल्यूकाच ने इसीलिए स्पष्ट निर्देश देना चाहा है कि कला में जिस 'आइडिआलोजी' (ideology) की बात की जाती है उसका संवाहक अमूर्त कथ्य न होकर उसका 'रूप' होता है और यही कारण है कि उपन्यास के 'रूप-विधान' की चर्चा करते हुए उन्होंने उसे 'बुर्जुआ समाज का महाकाव्य' कहकर पारिभाषित भी करना चाहा।

मार्क्सवादी विचारक भाषा और भाषिक रूप (linguistic form) की न केवल सैद्धांतिक चर्चा उठाते हैं बल्कि उसकी प्रकृति पर प्रकाश डालते हुए उसकी यथार्थता और सामाजिकता के संदर्भ को भी सामने लाते हैं। शैलीविज्ञान इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए यह कहना चाहता है कि भाषा की तरह ही मिथक, लोककथा साहित्य आदि भी कथ्य के अभिव्यक्तिकरण के साधन हैं और जो प्रारूप या पद्धति, भाषा-विश्लेषण के लिए अपनाए जाते हैं, वे उनके लिए भी सार्थक ढंग से अपनाए जा सकते हैं।

(ख) शैलीविज्ञान और स्वायत्तता के सिद्धांत के संदर्भ में कहा जा सकता है कि आलोचना को अगर विज्ञान बनना है तो पहले उसे विवेच्य वस्तु की प्रकृति और उसकी सीमा को समझना और उसका निर्धारण करना होगा। आलोचक को अपने कार्यक्षेत्र को परिभाषित करने के बाद ही अपना कार्य प्रारंभ करना अपेक्षित है। यह प्रवृत्ति ही शैलीविज्ञान को काव्यकृति में अंतर्निहित काव्यात्मकता को स्वायत्त या स्वनिष्ठ रूप में देखने के लिए बाध्य करती रही है। पर यह स्वायत्तता है क्या ?

पहले तो यह ध्यान में रखना चाहिए कि साहित्य एक संश्लिष्ट प्रक्रिया का परिणाम है और स्वायत्तता का सिद्धांत काव्य-व्यापार के अन्य क्षेत्रों से बिलगाव का कारण नहीं बनता। बिलगाव, एकांत-वाद (atomism) को जन्म देता है और 'खंडीय' (segmental) यथार्थ की अवधारणा को सामने लाता है जबकि स्वायत्तता-वाद का संबंध, वस्तु-विशेष की पूर्णता और उसकी स्वनिष्ठ इयत्तता (autonomy) से है। स्वायत्ततावाद, किसी वस्तु का विश्लेषण उसके भीतरी संसार से शुरू करता, है जिसकी ओर शैलीवैज्ञानिक विद्वान स्टैकेविक्ज़ (1960) ने इन शब्दों में संकेत दिया है—

The analysis of literature must begin from the inside from the single text, which is its concrete datum, but must move outside towards totality of literature and of culture, by means of hypothesis and generalizations. Like linguistics, poetics must aim at delimiting its field of enquiry. Bewaring at the same time of atomism, while aiming at autonomy.

स्वायत्तता का सिद्धांत, शैलीविज्ञान को जो दृष्टि देता है वह बाह्य जगत और कला जगत के बीच पाए जाने वाले संबंधों की यांत्रिक और जड़-प्रकृति से उसे मुक्त रखती है। काव्यकृति अपने में 'स्वायत्त' होती है, इस कथन का यह अर्थ नहीं कि इसके मानने वाले विचारक काव्यकृति के सामाजिक संदर्भ को ऋणात्मक दृष्टि से देखते हैं। अधिकांश (अधकचरे मार्क्सवादी आलोचक) इस संदर्भ में अपनी ही भ्रांतियों का शिकार होते दिखाई देते हैं। उनके अनुसार स्वायत्तता का सिद्धांत, कला से उसका ऐतिहासिक संदर्भ, सामाजिक अस्तित्व और सांस्कृतिक भूमिका छीन कर चलता है। स्वायत्तता के इस सिद्धांत के लिए रूसी रूपवादी आलोचकों की भी कटु आलोचना की गई, पर जैसा रोमन याकोव्सन का कथन है—

Neither Tynjanov, nor Mukarovsky, nor Shklovsky, nor I have preached that art is sufficient unto itself ; on the contrary, we show that art is a part of the social edifice, a component correlating with the others, a variable component, since the sphere of art and its relationship with other sectors of the social structure ceaselessly changes dialectically. What we stress is not a separation of art, but the autonomy of the aesthetic function.

मार्क्सवादी सिद्धांत यह मानकर चलता है कि साहित्य सपुर-स्ट्रक्चर का एक घटक है, पर वह यह कदापि स्वीकार नहीं करता कि यह घटक, आधार-स्ट्रक्चर (base-structure) का एक निष्क्रिय प्रतिबिंब मात्र है अथवा इनके बीच का संबंध यांत्रिक है। केवल कुत्सित-समाजशास्त्री ही यह मानकर चलते हैं कि 'काव्यकृति' और 'आइडिआलोजी,' 'आइडिआलोजी' और 'सामाजिक संबंध' तथा 'सामाजिक संबध' और 'उत्पादन शक्ति' में रेखीय या सममितपरक (symmetrical) संबंध होता है। मार्क्स ने साहित्य के उपयोगितावादी सिद्धांत के विरोध में Rheinische Zeitung में तो यहाँ तक लिखा है—

A writer does not regard his work as means to an end. They are an end in themselves; they are so little 'means' for himself and others, that he will, if necessary, sacrifice his own existence to their existence.

काव्य का अपना लक्ष्य होता है, उसका उद्देश्य स्वयं उसकी आंतरिक प्रकृति से निर्धारित रहता है और जो मूल्य हैं, वे काव्यकृति के भीतर आबद्ध संसार से जुड़े होते हैं। यह दृष्टि मार्क्स के अपने प्रौढ़ चिंतन से उद्भूत है। मार्क्स ने अपनी

प्रसिद्ध पुस्तक Theories of Surplus Value में लिखा—

Milton produced **Paradise Lost** for the same reason that a silk worm produces silk. It was an activity of **his** nature.

शैलीविज्ञान भी अपने स्वायत्तता के सिद्धांत के आधार पर 'साहित्य में समाज' और 'समाज में साहित्य' के अंतर को स्पष्ट करते हुए यह कहना चाहता है कि 'साहित्य में समाज' का प्रश्न उस काव्य-संसार का प्रश्न है जिसके जीवित संदर्भ के भीतर रहकर उसके पात्र क्रिया-कलाप करते हैं, जिसकी परिस्थितियों से टकराकर उसके पात्र अपने व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। अगर किसी युग के 'आइडिआलोजी' को समझना है तो काव्यकृति के भीतर आवद्ध इसी संसार के सहारे समझना संभव है। यह भाषाबद्ध संसार ही है जो एक ओर अपने युग से बँधा होने के कारण ठोस भी होता है और उससे मुक्त होकर समय और स्थान की सीमा का अतिक्रमण भी करता है। 'समाज में साहित्य' का संदर्भ किसी कृति को एक सामाजिक घटना मानते हुए उसके उपयोग की चर्चा उठाता है, उसे 'क्रांति' का हथियार और वर्ग-संघर्ष का शस्त्र मानता है या किसी राजनैतिक विचारधारा का संवाहक स्वीकार करता है। अगर साहित्य किसी 'सामाजिक मानसिकता' का व्यंजक रूप भी है तो उसकी व्यंजकता का आधार काव्यकृति में आवद्ध संसार ही हो सकता है। शैलीविज्ञान कृति को स्वायत्त मानते हुए उसमें आवद्ध संसार के विश्लेषण को ही अपना लक्ष्य मानता है।

(ग) सवाल यह है कि साहित्य में भाषाबद्ध काव्यसंसार और बाह्य जगत के भौतिक (सामाजिक) संसार के बीच के संबंधों की प्रकृति क्या है? इसमें संदेह नहीं कि चेतना की प्रकृति को बहुत दूर तक मनुष्य के बाह्य सामाजिक व्यवहार प्रभावित करते हैं। और जैसा मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक A Contribution to the Critique of Political Economy (1859) में लिखा है—मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व को नियंत्रित नहीं करती बल्कि इसके विपरीत उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना को निर्धारित करता है (It is not the consciousness of men that determines their being, but on the contrary, their social being that determines their consciousness)। अगर हम यह मान लें कि व्यक्ति के सामाजिक अस्तित्व का प्रमुख निर्धारक तत्व समाज का 'आधार-रचना' (base-structure) है और इस आधार-स्ट्रक्चर का मुख्य घटक 'समाज की अर्थव्यवस्था' और 'उत्पादन संबंध' है, तब सामाजिक चेतना के निर्धारक रूप (यथा, राजनीति, धर्म, नैतिकता, सौंदर्य आदि) को 'अधिरचना' (super-structure) का घटक कहा जा सकता है, जिसे मार्क्सवाद 'विचारधारा' (ideology) के नाम से संबोधित करता है। यह विचारधारा न तो कोई सैद्धांतिक मान्यता है और न ही विद्वानों द्वारा निरूपित कोई संकल्पना ही है। यह तो 'सामाजिक मानसिकता' (social mentality) है जो जीवन और जगत को देखने वाली हमारी दृष्टि को निर्धारित करती है। यही दृष्टि हमारे प्रात्यक्षिक रूप (form of perception) को भी नियंत्रित करती है।

भाषावैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि संसार को हम ठीक वैसा ही नहीं देखते जैसा वह है, बल्कि हम उसे वैसा देखने के लिए विवश हैं जैसा कि हमें भाषा देखने को बाध्य करती है। चाहे सोवियत भाषाविद् बादुएन द कुर्तने और अका० शेर्बा हो अथवा अमरीकी भाषाविद् सपीर और ब्होर्फ हों, सभी यह स्वीकार करते हैं कि हमारे प्रात्यक्षिक (भावगत) संसार का निर्धारक तत्व भाषा है। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि भाषा, उस 'सामाजिक मानसिकता' का सर्वाधिक महत्वपूर्ण संवाहक है जिसे मार्क्सवाद में 'आइडिआलोजी' से जाना जाता है। यहाँ दो प्रकार के प्रश्न उठ सकते हैं। पहला प्रश्न यह हो सकता है कि भाषा, 'सामाजिक मानसिकता' का संवाहक किस प्रकार बनती है (और इस प्रश्न का उत्तर हम भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में ढूढ़ते हैं) और दूसरा 'आइडिआलाजी' के संवाहक के रूप में भाषा, किस प्रकार 'सामाजिक मानसिकता' के दूसरे प्रात्यक्षिक रूप—यथा मिथक, लोक-कथाएँ, साहित्य आदि के साथ संबद्ध है (और इस प्रश्न का उत्तर हम शैलीविज्ञान के क्षेत्र में ढूँढ़ते हैं।)

'संसार' की बात तो सभी करते हैं पर यह भूल जाते हैं कि संसार को 'रूप' (form) के संदर्भ में देखने पर संसार और संसार में गुणात्मक भेद भी आ जाता है। इसी को ध्यान में रखकर मैंने अपने लेख—'संसर्गगत काव्यसंसार' में यह लिखा था कि शैलीविज्ञान के विरोधी आलोचक 'या तो भाषा को एक बहुत सीमित अर्थ में लेते हैं....या फिर भाषा को प्रतीकसिद्ध सार्थक व्यवस्था के रूप में न देख पाने के कारण एक ओर बाह्य (भौतिक) जगत, आत्मकृत (भाव) जगत तथा प्रतीकसिद्ध (भाषिक) जगत के आपसी संबंध और दूसरी ओर भाषा में रूपांतरबद्ध व्यावहारिक संसार और संवेगात्मक उद्देश्यों से परिचालित कलासिद्ध (काव्य) संसार के गत्यात्मक संबंधों को पकड़ नहीं पाते।'

भौतिक जगत, भावजगत, भाषिक जगत और काव्य जगत के बीच के गत्यात्मक संबंधों की प्रकृति के बारे में निम्नलिखित दो तथ्यों की ओर संकेत देना आवश्यक है—(1) इनके बीच का संबंध एकोन्मुखी (mono-directional) न होकर बहुमुखी (multi-directional) है और यही कारण है कि अगर हमारे भावजगत की प्रकृति को एक और भौतिक जगत निर्धारित करता है तो दूसरी ओर उसे हमारा 'भाषिक' और 'काव्य' जगत भी प्रभावित करता है। (2) इनके बीच के संबंधों की प्रकृति सममितपरक (symmetrical) नहीं होती और यही कारण है कि न तो 'भावजगत' को 'बाह्यजगत' की प्रतिच्छवि मात्र कहा जा सकता है और न ही 'काव्य जगत' को 'भावजगत' का मात्र प्रतिबिंब। संभवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखकर मार्क्स ने संकेत दिया कि भौतिक उत्पादन और कलात्मक उत्पादन के विकास के बीच समतुल्यता का सिद्धांत काम नहीं करता :

"In the case of the arts, it is well known that certain periods

of their flowering are out of all proportion to the general development of society, hence also to the material foundation, the skeletal structure, as it were, of its organization. For example, the Greeks compared to the moderns or also Shakespeare."

जिन विद्वानों ने बाह्‌य जगत और भावजगत या भावजगत और काव्य जगत के बीच के संबंधों को यांत्रिक रूप में लिया, उन्होंने मार्क्सवाद के प्रतिबिंब सिद्धांत (Reflection Theory) को भी यांत्रिक भाव से ही ग्रहण किया है। अगर यह मान भी लें कि 'साहित्य, समाज का दर्पण' है, तब जैसा ब्रेख्त ने कहा है उस दर्पण की प्रकृति वरणात्मक (selective) है। त्राट्स्की ने इस दर्पण की प्रकृति को विक्षेपित (deflective) बताया है, अल्थुसर (Althusser) ने इसे अपवर्तनपरक (refractive) कहा है और मशरे (Macherey) ने इसको विडंबनात्मक (parodic) माना है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्यजगत, अपनी प्रकृति और प्रकार्य दोनों में ही बाह्‌य-जगत्‌ से जुड़कर भी उससे भिन्न है। सच तो यह है कि साहित्य अपने युग की 'सामाजिक मानसिकता' (आइडिआलाजी) का मात्र निष्क्रिय प्रतिबिंबन नहीं, बह वस्तुत: उसके साथ 'साक्षात्कार' का परिणाम है, उससे टकराहट और एक सीमा तक उसके साथ 'चैलेंज' का प्रतिफल है।

सवाल केवल इतना ही नहीं है कि साहित्य, अपने युग की 'सामाजिक मानसिकता' को अपने भीतर कितना समेटता है। सवाल यह भी है कि 'सामाजिक मानसिकता' का हम पता कैसे पाते हैं? सामाजिक मानसिकता के रूप में 'आइडिआलाजी,' सामान्य व्यक्ति के लिए न केवल 'अव्यक्त' होती है बल्कि प्रत्यय के अभाव में 'अकथ्य' भी रहती है। शैलीविज्ञान यह मानता है कि इसी अव्यक्त और अकथ्य (covert) 'आइडिआलाजी' को साहित्य अपने रूपविधान द्वारा प्रात्यक्षिक (perceptual) बनाता है और इस प्रकार उसे अनुभवगम्य बनाता है कि वह अपना मूर्तरूप (overt form) लेकर हमारे लिए संवेद्य बन जाए।

स्पष्ट है कि शैलीविज्ञान की आलोचनात्मक दृष्टि न तो समाज विरोधी है और न ही वह पूंजीवादी या सम्राज्यवादी मूल्यों को पुन: स्थापित करने का प्रयास है। वह काव्यात्मकता को प्रकार्य के रूप में ग्रहण करते हुए कृति को स्वनिष्ठ मानता है, पर उसके द्वारा प्रतिपादित स्वायत्तता का सिद्धांत, सामाजिक संदर्भ को न तो ऋणात्मक दृष्टि से देखता है और न ही कृति की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक भूमिका को उससे काटता है।

\+ \+ \+

पुस्तक का यह दूसरा संस्करण कुछ परिवर्तित-परिवर्द्धित संस्करण है। परि-

शिष्ट के रूप में मैंने अपना एक नया लेख—'कला और संरचनात्मक दृष्टि' और जोड़ दिया है। आशा है, यह पुस्तक 'शैलीवैज्ञानिक आलोचना' की भूमिका को स्पष्ट करने में सहायक होगी। अंत में केंद्रीय हिंदी संस्थान, विशेषकर उसके संप्रति निदेशक प्रो० बाल गोविन्द मिश्र के प्रति आभार व्यक्त करना चाहूँगा, जिन्होंने पत्र लिख-लिखकर मुझसे इस द्वितीय संस्करण को बहुत कम समय में तैयार करवा लिया।

नई दिल्ली

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

दो शब्द

(प्रथम संस्करण की भूमिका)

आज देश-विदेश में साहित्यिक आलोचना को अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाने की माँग की जा रही है। और जब किसी दृष्टिकोण-विशेष पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाने लगता है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि सबसे पहले हम यह समझ लें कि उस दृष्टिकोण-विशेष को अपनाने के पीछे कौन सी प्रेरक शक्तियाँ काम कर रही हैं, उसके पीछे कौन-सा दर्शन है ? ज्ञान के क्षेत्र में ऐसी क्या नई उपलब्धि सामने आई है जो मोड़ देने के लिए एक आवश्यकता के रूप में महसूस की जाने लगी है। संक्षेप में कहें, तो यह सवाल सहज में उठाया जा सकता है कि साहित्य के क्षेत्र मे आलोचना और उस आलोचना का 'वैज्ञानिक' तत्व है क्या ?

इसमें संदेह नहीं कि हर युग की अपनी परिस्थितियों के अनुरूप सांस्कृतिक चेतना होती है, चिंतन-परिवेश का एक ऐसा दायरा होता है जिसके भीतर रह कर ही व्यक्ति प्रायः सोचता-समझता है। चिंतन-परिवेश का यह दायरा वस्तुतः किसी निश्चित दर्शन की माँग करता है। साहित्यिक आलोचना के अब तक के प्राप्त विविध रूप अपने-अपने युग के किसी न किसी दर्शन अथवा वैज्ञानिक चिंतन पद्धति से प्रभावित होते रहे हैं। यही कारण है कि विचारधारा और चिंतन-पद्धति की अपनी सीमाएँ, साहित्यिक आलोचना की सीमाएँ भी निर्धारित करती रही हैं। दूसरी बात यह भी रही है कि साहित्यिक आलोचना के पीछे जो चिंतन-पद्धतियाँ अपना काम करती रही हैं उनके स्रोत ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्र ही रहे हैं। वे कभी साहित्यकार के 'मन' का विश्लेषण करने के लिए मनोविज्ञान का सहारा लेते रहे हैं, कभी साहित्य की सामाजिक उपादेयता सिद्ध करने के लिए उसका समाजशास्त्रीय विवेचन करते रहे हैं अथवा 'रस' की अनिर्वचनीयता को स्पष्ट करने के लिए अन्य दार्शनिक सिद्धांतों का सहारा लेने के पक्ष में रहे हैं। फल यह रहा है कि साहित्यिक आलोचना के नाम पर फैलाव अधिक आया है, साहित्य के विविध पक्षों पर आंशिक विवेचना अधिक हुई है पर आलोचना का आधुनिक सिद्धांत अपने स्थान पर जैसे वहीं स्थिर खड़ा है जहाँ आज से कुछ वर्ष पूर्व स्थित था।

इसमें संदेह नहीं कि जहाँ विज्ञान के क्षेत्र में विकास के कुछ निश्चित चरण निर्देशित किए जा सकते हैं और किसी मान्यता-विशेष के विकास के कुछ स्पष्ट स्तर बतलाये जा सकते हैं, वहाँ साहित्यिक आलोचना का उस संदर्भ में विकास संदिग्ध

ही माना जाएगा । उदाहरण के लिए अगर 'गति के नियम' को गैलेलियो ने एक मोड़ दिया, न्यूटन ने दूसरा और आइंस्टीन ने तीसरा, तो एक ही सिद्धांत अपना विकास पाकर अपने को और भी वैज्ञानिक बनाता गया, उस दिशा में ज्ञान पुष्ट से पुष्टतर होता गया, ऐसी स्थिति में समय के स्तर पर भौतिक विज्ञान एक सीधी रेखा (linear movement) में अपना इतिहास बनाता है जबकि ऐसा इतिहास हमें साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में नहीं मिलता । और अगर यह मान भी लिया जाए कि आलोचना के क्रमिक विकास का अपना इतिहास भी है तो निश्चित रूप से यह भी कहा जा सकता है कि उसकी गति ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की तुलना में मंद है । साहित्यिक आलोचना तथा वैज्ञानिक सिद्धांत के क्रमिक विकास से परिचित एक प्रबुद्ध पाठक के लिए पहले के क्रमिक विकास की गति प्रायः स्थिर ही जान पड़ती है ।

कहीं मेरी बात को गलत ढंग से न ले लिया जाए इसके लिए मैं यहाँ एक-दो तथ्यों को और भी स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ । जब मैं साहित्य-संबंधी आलोचना की बात उठाता हूँ तो मेरा तात्पर्य केवल साहित्यिक 'मूल्यों' तक सीमित नहीं । कोई भी सिद्धांत एक ओर जब मूल्यों का निर्माण करता है तो दूसरी ओर एक निश्चित प्रणाली का भी विकास करता है । आलोचना के संदर्भ में जब साहित्यिक सिद्धांत की चर्चा उठाई जाती है तब उसे केवल 'मूल्यों' तक सीमित रख कर उसकी व्यावहारिकता से प्रायः हम इनकार कर देते हैं । इसमें संदेह नहीं कि साहित्यिक आलोचना, साहित्य-सिद्धांत के साथ अपने व्यावहारिक पक्ष को लेकर हमारे सामने आती है अर्थात् उसका संबंध 'प्रणाली' से भी है । आलोचना-सिद्धांत के स्तर पर साहित्यिक मूल्यों का इतिहास दिखाया जा सकता है पर ऐसा इतिहास एक विशेष दृष्टि के सहारे ही लिखा जाना संभव है (विम्सैट और ब्रूक्स 1957 : 7) जो आलोचक की अपनी दृष्टि से तटस्थ हो ही नहीं सकता । जहाँ तक आलोचना के दूसरे उपकरण अर्थात् प्रणाली का प्रश्न है, साहित्यिक आलोचना के संदर्भ में उसका क्रमबद्ध विकास देखने को नहीं मिलता । अतः इतिहास के रूप में उसको लिखा भी नहीं जा सकता । डेविड् डेइचिस (1957 : 8) जब आलोचना की प्रणाली को अपनी पुस्तक का आधार बनाते हैं तब वे साहित्यिक आलोचना का इतिहास लिखने में अपने को असमर्थ पाते हैं ! वस्तुतः यह अक्षमता लेखक की नहीं वरन् उसका संबंध तो स्वयं प्रतिपाद्य विषय अर्थात् आलोचना की प्रणाली से है । ध्यान देने की बात है कि विज्ञान के क्षेत्र में इतिहास वस्तुतः सिद्धांत के साथ-साथ उसकी प्रणाली का भी विकास रहा है ।

सच तो यह है कि वैज्ञानिक आलोचना के नाम पर जो भी साहित्य के क्षेत्र में लिखा गया है उसका संबंध विज्ञान के अन्य क्षेत्रों से लिए गए कुछ प्रत्यय (concept) के प्रयोग मात्र तक सीमित रहा है । आधुनिक विज्ञान के पीछे प्रेरणा-स्वरूप कार्य करने वाली चिंतन-पद्धति से अथवा उस चिंतन को व्यावहारिक स्तर

पर कार्य में लाने वाली कार्य-प्रणाली से आलोचकों का दूर का भी संबंध नहीं रहा है। उन्होंने, अपने युग में प्रचलित मान्य वैज्ञानिक धारणाओं को लेकर मानविकी के अन्य क्षेत्रों में जो प्रयोग हुए, उसके निष्कर्ष पर अधिक बल दिया, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि क्षेत्रों की प्रचलित मान्यताएँ ही उनके लिए आदर्श बनीं, जबकि ये क्षेत्र न तो पूरी तरह से अपने युग की वैज्ञानिक धारणाओं को ठीक से अपना सके थे, और न अपने क्षेत्र में उस कार्य-पद्धति या टेकनीक को ही विकसित कर पाए थे, जो हमें भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में देखने को मिलती हैं। परिणाम भी स्पष्ट है। साहित्यिक आलोचना की वैज्ञानिकता, मानविकी के स्तर पर ही बँधी रही, बल्कि कहना चाहिए कि वैज्ञानिक धारणाओं से सीधे संबंध न रहने के कारण उससे भी निम्न श्रेणी की ही बनी रही।

आलोचना स्वयं में एक 'अनुशासन' है, वह एक 'टेकनीक' है जो अपनी सिद्धि के लिए एक निश्चित कार्य-प्रणाली का विकास करती है। वस्तुतः आलोचना को वैज्ञानिक बनाने का अर्थ इस कार्य-प्रणाली को वैज्ञानिक बनाना है। प्रश्न किसी साहित्यिक मान्यता को लेकर आज नहीं रह गया है और न अब साहित्य की सामाजिक, मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक पृष्ठभूमि ढूँढ़ने में ही आलोचना की उपलब्धि रह गयी है। यह मैं नहीं कहता कि ऐसे अध्ययन का अपना कोई महत्व नहीं है। सभी अपने स्थान पर किसी न किसी पक्ष का उद्घाटन करते हैं, निश्चय ही वे सृजनात्मक प्रक्रिया, सामाजिक परिवेश, पाठकों पर कृति के प्रभाव आदि पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। पर इसके बावजूद एक मुख्य प्रश्न, प्रश्न-चिह्‌न बन कर बचा ही रह जाता है और वह प्रश्न है 'आलोचना की टेकनीक की वैज्ञानिकता' का जिसे आलोचक को अपनाना ही पड़ता है। साहित्य आज जब ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों को स्पर्श करता है तब उन तंतुओं का, जो साहित्येतर क्षेत्रों से उनका संबंध जोड़ते हैं, अध्ययन अपने ढंग से अपने में उपलब्धि हो सकता है। पर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि साहित्यिक आलोचना का दायित्व पहले स्वयं साहित्य के क्षेत्र की अपनी सीमा-रेखा के भीतर किसी कृति के सही विश्लेषण के प्रश्न के साथ जुड़ा रहता है, स्वयं रचना के संघटनात्मक तत्वों एवं उनकी आंतरिक अन्विति पर प्रकाश डालने के लक्ष्य के साथ संबद्ध रहता है।

अतः जब आलोचना की टेकनीक और उस टेकनीक की वैज्ञानिकता की बात उठती है तो उसका मतलब मुख्यतः साहित्य से है, उस कृति-विशेष से है जिसका अध्ययन आलोचक को साध्य रहता है और उस अध्ययन के लिए अपनाई गई उस कार्य-प्रणाली से है जिसके सहारे वह साहित्यिक विशिष्टताओं पर प्रकाश डालता है।

विज्ञान अथवा साहित्य तथा बाह्‌य जगत अथवा साहित्यिक जगत के अंतर को हम 'सत्य' अथवा 'लक्ष्य' के संदर्भ में यह कह कर नहीं समझ सकते कि इनके सत्य की प्रकृति में कोई गुणात्मक भेद है अथवा निष्कर्ष के रूप में ये दो भिन्न कोटि की मान्यताओं का प्रतिपादन नहीं करते हैं। ज्ञान का हर क्षेत्र सत्य को चाहता है

अत: लक्ष्य एवं प्रक्रिया के धरातल पर ये सभी समान होते हैं। इनके बीच का अंतर वस्तुत: अभिव्यक्ति-पद्धति और कार्य-प्रणाली का अंतर होता है। विज्ञान जिस निर्वचनात्मक (operational) पद्धति का सहारा लेता है कला, उससे भिन्न प्रस्तुतीकरण की (presentational) अभिव्यक्ति-पद्धति का अवलंबन लेती है। अभिव्यक्ति-पद्धति के इस आधार पर साहित्य के अध्ययन-विश्लेषण की वैज्ञानिक पद्धति ही शैलीविज्ञान (stylistics) का मूलाधार है।

शैलीविज्ञान, साहित्यिक आलोचना का सिद्धांत भी है और प्रणाली भी। सिद्धांत के रूप में इसकी दृष्टि भाषावादी है। भाषावादी सिद्धांत के रूप में उसकी यह प्रमुख मान्यता है कि साहित्य 'शाब्दिक कला' (verbal art) है और कृति के रूप में साहित्यिक रचना, भाषा की अपनी सीमा में बँधी एक स्वनिष्ठ (autonomous) इकाई है। साहित्यिक कृति भाषा को न केवल अभिव्यक्ति का माध्यम बनाती है अपितु स्वयं भाषा के भीतर ही अपना जन्म धारण करती है।

भाषा के साथ अविच्छिन्न संबंध बनाए रखने के कारण अध्ययन-विश्लेषण के हर स्तर पर शैलीविज्ञान उस वैज्ञानिक सिद्धांत एवं प्रणाली की माँग करता है जिसमें साहित्य के संदर्भ में भाषा की प्रकृति एवं संरचना को स्पष्ट करने की क्षमता हो। स्पष्ट है, भाषा की प्रकृति एवं संरचना को समझने का अपना 'विज्ञान' है जिसे आज हम 'भाषा-विज्ञान' के नाम से जानते हैं। अत: शैलीविज्ञान का निकटतम संबंध एक ओर प्रतिपाद्य विषय के रूप में साहित्यिक सिद्धांत के साथ सिद्ध है तो दूसरी ओर कार्य-प्रणाली के रूप में भाषा-वैज्ञानिक टेकनीक के साथ भी। शैलीविज्ञान जिस आलोचना की नयी भूमिका के निर्माण की बात उठाता है उसके निर्वाह के लिए यह आवश्यक है कि आलोचक साहित्यिक विशिष्टता और भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली, दोनों से ही भली भाँति परिचित हो, क्योंकि इस आलोचना-प्रणाली की यह सैद्धांतिक मान्यता है कि साहित्यिक कृति व्यापक रूप में उस भाषा-क्रिया की ही परिणति है जो अपनी साहित्यिक विशिष्टताओं के फलस्वरूप एक उप-श्रेणी का निर्माण करती है। इस उप-श्रेणी का अध्ययन तभी संभव है जब इसकी साहित्यिक विशिष्टताओं का उद्घाटन भाषिक संघटनाओं की अपनी विशेषताओं के संदर्भ में किया जाए। भाषा और साहित्य के इस अतर-संबंध एवं उनसे संबंधित भाषा-विज्ञान और साहित्य-शास्त्र के सिद्धांतों की अनिवार्य पूरक स्थिति पर याकोब्सन का यह कथन द्रष्टव्य है—"भाषा के काव्यफलन के प्रति बधिर भाषा-वैज्ञानिक और भाषा-वैज्ञानिक समस्याओं से उदासीन एवं भाषा-वैज्ञानिक प्रणालियों से अपरिचित साहित्य-शास्त्री, दोनों ही समान रूप से अपने समय से बहुत पीछे हैं।"

शैलीविज्ञान का चिंतन वस्तुपरक है और दृष्टि भाषावादी। अत: शैलीवैज्ञानिक मान्यता के अनुसार कविता को न तो कवि के उस अभिप्राय के आधार पर जाँचा-परखा जा सकता है जिसे लेकर वह अपनी कृति की रचना करता है और न पाठकों पर पड़े प्रभाव के संदर्भ में उसकी व्याख्या संभव है। कविता का वास्तविक

क्षेत्र स्वयं 'कविता' अर्थात् 'कृति' है जो स्वयं में ठोस और यथार्थ है और जिसका अपना पूरा संसार भाषा और शैली की सीमा में आबद्ध रहता है।

साहित्य का कोई उद्देश्य होता है या नहीं अथवा कविता मूल्य-सापेक्ष होती है या नहीं, इस पर शैलीविज्ञान अपना कोई अंतिम निर्णय नहीं देता, देना भी नहीं चाहता। वह तो वैज्ञानिकों की पद्धति अपनाते हुए मात्र यह कहना चाहता है कि साहित्य का, (अथवा किसी भी कलाकृति का) उद्देश्य या मूल्यों के संदर्भ में अध्ययन-विश्लेषण का विचार स्वय में उपयोगी नहीं। कोई वस्तु 'क्या' है और वह 'क्या' करती है इसकी विवेचना को तो वैज्ञानिक दृष्टि अपनाती है; पर वह वस्तु 'क्यों' है उसकी सत्ता किस उद्देश्य को लेकर है, इन प्रश्नों को अपने सीमा-क्षेत्र से बाहर ही रखती है। अमेरिका के प्रसिद्ध कवि-आलोचक रैन्सम ने प्राचीन और आधुनिक कविता का अंतर बतलाते हुए कहा है कि अब तक का समाज और आलोचक कवि को सौंदर्य-स्रष्टा के साथ-साथ नैतिक उपदेशक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक नेता और धार्मिक प्रचारक के रूप में स्वीकार करता आया है और कवि भी इस माँग की पूर्ति के उद्-देश्य से अपनी रचना करता रहा है पर आज का कवि आधुनिक भी इसीलिए है कि उसने अपने कृतित्व से इस आडंबर को उतार फेंका है।

यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि शैलीविज्ञान का यह वस्तुपरक चिंतन और भाषा-वादी दृष्टिकोण भले ही आधुनिक वैज्ञानिक मान्यताओं एवं भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली के रंग में रंगा हो पर भारतीय काव्य-शास्त्र की अपनी परंपरा भी इन्हीं विचार-तत्वों को लेकर आगे बढ़ी है। रघुवंश (1967) के शब्दों में भारतीय काव्य-शास्त्र "सदा से वस्तुपरक चिंतन, रूपवादी विश्लेषण पर बल देता आया है। उसमें न कभी भाव-वाद तथा प्रभाववाद को महत्व मिला है और न किसी प्रश्न के विधेयवाद को। संस्कृत काव्य-शास्त्र का मूलाधार शब्द और अर्थ है और उसमें भी चाहे अलंकार-विधान हो, लक्षणा-व्यंजना का प्रयोग हो, गुणों के अंतर्गत वर्ण-व्यवस्था पर विचार हो अथवा रस-प्रक्रिया को ग्रहण करने की बात हो, चिंतन की दृष्टि शब्द-प्रयोग पर ही केंद्रित रहती है।" 'पाणिनीय भाषादर्शन और भारतीय चिंतन' नामक पढ़े गए अपने निबंध में विद्यानिवास मिश्र ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है कि भारतीय चिंतन मूलतः वाक्केंद्रित चिंतन है और इस चिंतन की पृष्ठभूमि पर खड़े होकर यह देखा जा सकता है कि काव्यार्थ प्रत्यक्ष शब्द-व्यापार-समर्थित है।

प्रस्तुत पुस्तक वस्तुतः 'शैलीविज्ञान की भूमिका' के रूप में दिए गए उन तीन भाषणों का लिखित रूप है जिन्हें मैंने केंद्रीय हिंदी संस्थान के निदेशक डा० व्रजेश्वर वर्मा के अनुरोध पर आगरा में दिया था। डा० वर्मा का आग्रह था कि शैलीविज्ञान की सैद्धांतिक पीठिका को तो सामने लाया ही जाए पर उसके साथ, अगर संभव हो, तो यत्र-तत्र व्यावहारिक पक्ष पर भी प्रकाश डाला जाए। डा० वर्मा का उत्साही आग्रह जितना प्रबल था मुझे अपनी सामर्थ्य-शक्ति की सीमा का भी उसी अनुपात में बोध हो रहा था।

एक प्रश्न मन को और भी दुविधाग्रस्त किए हुए था—शैलीविज्ञान की चर्चा उठाई जाए तो किस संदर्भ में ? शैलीविज्ञान, साहित्यशास्त्र की भाषावादी दृष्टि और वस्तुवादी चिंतन का मताग्रह लेकर चलता है पर इसके साथ ही आलोचना का आधुनिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी है। मैं यह मानता रहा हूँ कि 'आधुनिकता' के प्रश्न को 'विज्ञान' की ऐतिहासिक उपलब्धि एवं उसके विकास की समस्या से काट कर नहीं समझा जा सकता।

आधुनिकता का संबंध जितना आधुनिक संवेदना एवं भाव-बोध के साथ जुड़ा रहता है उससे कहीं अधिक उस भाव-बोध को देखने की वैज्ञानिक दृष्टि से बँधा होता है। यह आधुनिक दृष्टि, अपने युग में ज्ञान की टूटती उस जमीन से उत्पन्न चिंतन-प्रक्रिया से संबद्ध रहती है जिस जमीन को विज्ञान अपने इतिहास के विकास-क्रम में तोड़ने को विवश रहता है। 'अभी' हाथ से छूटती जा रही मान्यताओं एवं 'आज' तक स्वीकृत पर 'अब' के प्रश्नों से खंडित होती जा रही सिद्धांत-प्रतिमाओं पर जो दृष्टि विज्ञान डालता है उससे असंपृक्त रह कर नये और आधुनिक भाव-बोध की चर्चा व्यर्थ है। 'आधुनिकता' अपने युग की संवेदनात्मक असंगतियों की तीव्रतम अनुभूति के साथ ही साथ 'चेतना' की गहरी और व्यापक दृष्टि भी है, गहरी—क्योंकि अपने युग की धरती में गहराई में धँसी विसंगतियों की उसमें पकड़ होती है, व्यापक—क्योंकि उस दृष्टि के सहारे अपने युग की धारणाओं के साथ-साथ परंपरित मूल्यों एवं इतिहास के पूर्ववर्ती सभी चरणों को नये संदर्भ में असंगति-रहित व्याख्या करने में वह सक्षम होती है।

शैलीविज्ञान, साहित्यिक सिद्धांत का वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी है और आलोचना की आधुनिक भूमिका भी। अतः शैलीविज्ञान को सही संदर्भ प्रदान करने के लिए यह आवश्यक हो गया है कि पूरी विवेचना को वैज्ञानिक सिद्धांत, वैज्ञानिक प्रणाली और वैज्ञानिक प्रक्रिया के संदर्भ में प्रस्तुत किया जाए। अतः तीन भाषणों के विचार-बिंदु क्रमशः 'विज्ञान और साहित्य : सृजनात्मक प्रक्रिया की समानता', 'विज्ञान और कविता : अभिव्यक्ति-पद्धति की विशिष्टता' और 'शैलीविज्ञान-आलोचना का भाषावादी दृष्टिकोण : स्वरूप एवं प्रकृति' रखे गए हैं।

परिशिष्ट के रूप में संबंधित विषय पर 'आलोचना' में प्रकाशित मेरे दो लेखों के संकलन को अनुमति देकर डा० व्रजेश्वर वर्मा ने मुझ पर अनुग्रह ही किया है। उन लेखों के साथ-साथ प्रकाशित होने से इन भाषणों में कई अन्य समस्याओं को उठाने और उस पर विचार करने के अतिरिक्त श्रम से मैं बच गया हूँ। 'आलोचना' में ही प्रकाशित अपने तीसरे लेख—'साहित्य-विश्लेषण का संघटनात्मक दृष्टिकोण' का मैंने इन तीन भाषणों में मुक्त भाव से उपयोग किया है। ये लेख वस्तुतः डा० नामवर सिंह की प्रेरणा के परिणाम हैं। शैलीविज्ञान पर लिखने की न केवल उन्होंने प्रेरणा दी अपितु गुरु-आदेश के साग्रह भाव के साथ उनको मुझसे लिखवाया भी।

अंत में मैं यह अवश्य कहना चाहूँगा कि अगर उन भाषणों के प्रति डा० व्रजेश्वर वर्मा ने अपनी व्यक्तिगत दिलचस्पी न दिखाई होती और उनको लिपिबद्ध कर पुस्तकाकार रूप देने के लिए बार बार आग्रह न किया होता तो संभवतः आज ये व्याख्यान प्रकाशित रूप में सामने आते भी नहीं। आभार प्रदर्शन के समय अपने सहयोगी एवं मित्र डा० बाल गोविन्द मिश्र का स्मरण आ जाना स्वाभाविक है जिन्होंने इस पुस्तक की प्रत्येक पंक्ति को ध्यानपूर्वक पढ़ कर मेरा उत्साहवर्द्धन किया।

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

1

विज्ञान और साहित्य : सृजनात्मक प्रक्रिया की समानता

विज्ञान और साहित्य की तुलना की जब कभी भी बात उठती है, सामान्यतः यह स्वीकार कर लिया जाता है कि विज्ञान का संबंध भौतिक जगत से है, वह बाह्य-संसार का परीक्षण और विश्लेषण करता है तथा उसकी पद्धति तथ्यों के विश्लेषण के उपरांत उन सामान्य नियमों के निरूपण तक सीमित रहती है जो बाह्य जगत के कार्य-व्यापार को कार्य-कारण संबंधों के आधार पर नियंत्रित करते हैं। इसके विपरीत साहित्य को विज्ञान के ठीक विरोध में खड़ा कर यह कहा जाता है कि इसका संबंध मूलतः भाव जगत से है। वह मानवीय व्यापार का पर्यवेक्षण और विश्लेषण करता है तथा उसकी पद्धति आंतरिक संसार के अनुभवों और संस्कारों के विश्लेषण के उपरांत उन सामान्य नियमों का दिग्दर्शन है जो जीवन-व्यापार की मूल प्रवृत्तियों के रूप में कार्य करते हैं। बाह्य तथा आंतरिक, स्थूल तथा सूक्ष्म, भौतिक उपकरण और सांस्कृतिक उपलब्धियाँ, तथ्यपरक कथन और भावपरक मूल्य आदि विभाजक रेखाओं के संदर्भ में विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र को परिभाषित करने वाले सुधी विद्वान यह देखने का यत्किंचित् भी प्रयास नहीं करते कि वैज्ञानिक और साहित्यिक प्रक्रिया में कोई समानता भी है।

ध्यान देने की बात है कि विज्ञान और साहित्य की विश्लेषणात्मक प्रक्रिया, बुद्धि के समान पक्ष को लेकर चलती है और इनकी संश्लेषणात्मक पद्धति, कल्पना का समान रूप से उपयोग करती है। विज्ञान भी 'सामान्यीकृत' नियमों का उद्घाटन करता है, साहित्य की भाँति वह भी जीवन और जगत के ठोस संदर्भों के साथ सामने लाने का प्रयास करता है और साहित्य की ही भाँति उन दो प्रक्रियाओं के साथ वह अपना संबंध बनाए रखता है जिसे अमूर्तन (abstraction) और प्रतीकन (symbolization) प्रक्रिया कहते हैं।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि विज्ञान के क्षेत्र में अपनाई जाने वाली कार्य-प्रणाली क्या मनुष्यों की अपनी कार्य-विधि, उसके सामाजिक व्यवहार एवं आंतरिक

क्रिया-कलापों पर भी लागू की जा सकती है ? क्या भौतिक जगत के अध्ययन के निमित्त विकसित प्रणाली को समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान, इतिहास अथवा साहित्य के क्षेत्र में सफलतापूर्वक प्रयोग में लाया जा सकता है ? क्या निष्प्राण भौतिक जगत जहाँ विकल्प और चुनाव का प्रश्न नहीं, जहाँ गति स्व-निर्देशित एवं स्व–संयोजित प्राकृतिक नियमों के अनुसार संचालित होती है और मनुष्य का आंतरिक जगत, जहाँ व्यक्ति की इच्छाएँ विकल्प को अपना आधार बनाती हैं, जहाँ व्यक्ति के आपसी संबंध स्थिति को और भी जटिल बना देते हैं—एक हैं ? अगर वे एक नहीं तो क्या विषय वस्तु की विभिन्नता, उनके अध्ययन के लिए विभिन्न प्रणाली की माँग नहीं करती ?

इस संदर्भ में प्रसिद्ध इतिहासकार टायन्बी (1945:452) का मत ध्यान देने योग्य है। उनके अनुसार हमारे पास विचार-सामग्री और उसके साथ मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों को अभिव्यक्त करने की तीन पद्धति हैं। पहली पद्धति है विशिष्ट 'तथ्यों' के निरीक्षण और अनुलेखन की, दूसरी पद्धति है तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से सामान्य नियमों के निरूपण एवं स्पष्टीकरण की, ओर तीसरी पद्धति है कलात्मक सृजन और उस अभिव्यक्ति की जिसे हम 'फ़िक्शन' कहते हैं। इतिहास, नृतत्व-शास्त्र और साहित्य, वस्तुतः तीन विभिन्न क्षेत्र हैं जहाँ अध्ययन की ये तीन स्पष्ट पद्धतियाँ क्रमशः लागू की जा सकती हैं। अतः टायन्बी के अनुसार जीवन और जगत के विभिन्न पक्ष जो विभिन्न ढंग से हमारे सामने आते हैं उनके अध्ययन के भी उसके अनुरूप विभिन्न टेकनीक हैं क्योंकि उनकी कार्य प्रणाली एक हो ही नहीं सकती। अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए वे इन विभिन्न पद्धतियों (टेकनीक) का संबंध तथ्य संबंधी आँकड़ों को सुचारु रूप से ग्रहण एवं अध्ययन करने की परिमाणिक क्षमता के साथ जोड़ने का भी प्रयास करते हैं। उदाहरण के लिए जहाँ 'डेटा' परिमाण में अत्यंत सीमित हों, वहाँ उनको अनुलिखित मात्र करना ही संभव है पर जहाँ वे परिमाण में इतने अधिक हों कि उन्हें क्रमबद्ध अंकित करना संभव नहीं लेकिन साथ ही वे संख्या में इतने अधिक भी न हों कि उनका सर्वेक्षण करना संभव न हो, वहाँ तुलनात्मक पद्धति के माध्यम से सामान्य नियमों का निरूपण एवं व्याख्या संभव है। लेकिन जब 'डेटा' संख्यातीत हों, जिनको न तो क्रमबद्ध करना संभव है और न उनका सर्वेक्षण ही, वहां कलात्मक सृजन का ही एक मात्र टेकनीक अपनाया जा सकता है। अतः इस मत के अनुसार विभिन्न टेकनीक आपस में 'डेटा' को विभिन्न परिमाणों में देखने समझने और उसको कार्य रूप में बदलने की अतिरिक क्षमता के आधार पर एक दूसरे से अलग हो जाते हैं।

नृतत्व शास्त्री, वैज्ञानिक टेकनीक अपना सकता है, वह सामान्य नियमों का निरूपण-निर्देशन कर सकता है, सामाजिक व्यवहार में 'पैटर्न' की स्थापना कर सकता है और यह इसलिए कि आज कम से कम 650 आदिम समाजों से हमारा परिचय है। इसके विपरीत इतिहासकार उससे अधिक कुछ कर ही नहीं सकता जितना आज

वह कर रहा है, अर्थात्, तथ्यों के अंकन और उसकी व्याख्या से ऊपर उठ कर सामान्य नियमों का निर्देश उसकी सीमा-क्षमता के बाहर है। और इसका कारण? टायन्बी के अनुसार इसका कारण सभ्य-समाज की सीमित संख्या है। आज हम 20-21 से अधिक सभ्य समाजों की सामाजिक व्यवस्था से परिचित ही नहीं। साहित्यकार के लिए भी उस वैज्ञानिक टेकनीक को अपनाना संभव नहीं है जिसके लिए नृतत्व-शास्त्री को प्रशंसा की दृष्टि से देखा जाता है। पर इसका कारण तथ्यों का सीमित होना नहीं है, वरन् ठीक इसके विपरीत मानवीय संबंधों का संख्यातीत परिमाण वह कारण है जो तुलनात्मक पद्धति के समक्ष एक प्रश्नवाचक चिह्न बन कर सामने आ जाता है। उपन्यास और नाटक साहित्यिक विधा इसलिए हैं क्योंकि वे व्यक्तिगत संबंधों को प्रतिपाद्य विषय-वस्तु का मूलाधार बनाते हैं। अतः टायन्बी के अनुसार इतिहास और साहित्य के अध्ययन-विश्लेषण की पद्धति में लचीलापन और अस्थिरता (fluctuations) का आना न केवल स्वाभाविक है, पर यह एक अनिवार्य स्थिति भी है।

ठीक इसके विपरीत प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक येल्मस्लेव (1957:7) विभिन्न टेकनीकों में किसी एक के चुनाव को विषय-वस्तु के परिमाण एवं गुण के आधार पर स्वीकार करने के सिद्धांत के विरुद्ध हैं। टेकनीक के चुनाव का प्रश्न विषय-वस्तु से संबंधित न होकर उस विषय पर शोध करने वाले विद्वानों की व्यक्तिगत अभिरुचि के साथ प्रायः जुड़ा रहता है। अगर टेकनीक वैज्ञानिक है तो वह व्यक्तिगत अभिरुचि के प्रश्न के बाहर होगी और उसकी प्रणाली निश्चित ही एक होगी। परिमाण में संख्यातीत और सीमित तथ्यों के आधार पर निर्मित सिद्धांत का प्रश्न तो मात्र संभावना (probability) की डिग्री का प्रश्न है, न कि विषय-वस्तु के गुणात्मक भेद का।

सच तो यह है कि विषय-वस्तु के संदर्भ में किसी टेकनीक-विशेष के चुनाव की सारी समस्या 'फलन' (Function) के प्रत्यय को ठीक से समझने की है जो आधुनिक विज्ञान का मूल सिद्धांत है। अरस्तू ने वस्तुओं के त्रिगुणात्मक पक्षों की ओर संकेत दिया है—(1) वस्तु की सत्ता है, (2) उसके कुछ गुण हैं, और (3) वह कुछ कार्य संपादित करता है। इस विभाजन के आधार पर रसेल ने वाक्यों का विभाजन तीन खंडों में किया है—विशेष्य, विशेषण और क्रिया। पर आधुनिक विज्ञान ने इस त्रिगुणात्मक विभाजन को आज समाप्त कर दिया है। उदाहरण के लिए गुण और क्रिया के भेद को ही लें। नीलापन गुण है अथवा क्रिया? प्राचीन मान्यता के अनुसार यह गुण-भेद के अंतर्गत माना जाएगा। लेकिन विज्ञान की खोज के अनुसार तो उसे एक निश्चित लंबाई की विद्युत तरंगों की क्रिया के रूप में ही समझना संभव है। गुण-क्रिया आज आपस में एक-दूसरे की सीमा में अंतर्भुक्त हो चुके हैं। क्रिया के अतिरिक्त गुण की सत्ता नहीं और गुण-क्रिया को अलग कर हम वस्तु के अस्तित्व का बोध ही नहीं कर सकते। अतः तीनों पक्षों का समाहार आज एक प्रत्यय में हो गया है और वह है 'फलन' का प्रत्यय जिसका चरम विकास हमें गणित में देखने को

मिलता है। सामान्य विज्ञान और सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में अपनाई गई टेक-नीक का अंतर वस्तुत: 'फलन' के इस प्रत्यय को अपनाने और न अपनाने का अंतर है। सामाजिक विज्ञान वस्तुत: वस्तुओं को विशेष्य तक सीमित कर उसी को एक 'इकाई' मान लेता है और उससे आगे नहीं जाता, जबकि सामान्य-विज्ञान 'फलन' के प्रत्यय-बोध को अपनाने के कारण 'वस्तुओं' के पार जाकर उसका विश्लेषण करता है, क्योंकि उसके लिए वस्तु अंतिम इकाई नहीं होती।

टायन्बी ने टेकनीक के संबंध में साहित्य की चर्चा उठाई है। उसने अरस्तू के साहित्य-सिद्धांत की आलोचना करते हुए यह निर्णय दिया है कि अरस्तू ने कविता की सामान्यीकृत पद्धति और इतिहास की व्यक्तिपरक अध्ययन-प्रणाली को ठीक से नहीं समझा था क्योंकि उसे उपन्यास-नाटक में प्रयुक्त व्यक्तिगत संबंधों की रूप प्रकृति और कविता-विज्ञान की सामान्यीकृत रचना का अंतर स्पष्ट नहीं था।

लेकिन प्रश्न है—क्या उपन्यासकार व्यक्तिगत संबंधों को व्यक्तिगत रूप में ही अभिव्यक्त करता है? क्या वहाँ सामान्यीकरण की प्रक्रिया काम नहीं करती? क्या उपन्यासकार किसी घटना के संभावित पक्ष और वास्तविक जगत में घटने वाली घट-नाओं के भेद को आमने-सामने नहीं रखता? साहित्य की विवेचना करते समय प्रसिद्ध रूसी आलोचक बेलिन्स्की ने एक स्थान पर लिखा है—'कला संभावित यथार्थ का रचनात्मक रूपांतर है।' जो यथार्थ नहीं हो सकता, वह कला में स्थान पाने योग्य नहीं। कला तो यथार्थ की अभिव्यक्ति है। पर यथार्थ के साथ जुड़ा हुआ 'संभावित' शब्द इस तथ्य का बोधक है कि कला, वास्तविक जगत की यथातथ्य अनुकृति की माँग नहीं करती। कला के क्षेत्र में कल्पना का प्रयोग वर्जित नहीं, पर कल्पना की कार्य-सिद्धि का क्षेत्र निश्चित एवं सीमित है। कल्पना के माध्यम से कलाकार उन समस्त तथ्यों के अंकन एवं 'नए' जगत के निर्माण के लिए स्वतंत्र है जो यथार्थ के रूप में अपना अस्तित्व ग्रहण करने योग्य हों। शर्त तो केवल यह है कि उसकी कल्पना द्वारा उद्भूत संसार यथार्थ की संभावना से परे न हो। सच तो यह है कि 'संभावित यथार्थ' का तात्पर्य किसी घटना के किसी विशेष परिस्थिति में एक विशेष ढंग से घटित होने से है। जिस अनुपात में हम इन परिस्थितियों को निर्दिष्ट कर सकने में समर्थ होंगे, उसी अनुपात में घटनाओं की प्रकृति-संभावना को भी निर्दिष्ट करने में हम सक्षम होंगे (श्रीवास्तव 1962 : 147)।

स्पष्ट है, विज्ञान अपनी प्रणाली को पर्यवेक्षण के आधार पर प्राप्त तथ्य-सामग्री के संदर्भ में अपनाता है और साहित्यकार भी अपनी प्रणाली को उस संश्लेष-णात्मक विधान के आधार पर अपनाता है जो वस्तुत: वैसी ही तथ्य-सामग्री के पर्यवे-क्षण पर आधारित है, जिसको वैज्ञानिक स्वीकार करता है। अंतर है तो केवल इतना कि पर्यवेक्षित तथ्य-सामग्री द्वारा निर्मित 'साहित्यिक' जगत एवं उसकी क्रियात्मक घट-नाओं के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह यथार्थ में घटी ही हों। पर अपनी तमाम

स्वतंत्रता के बावजूद वह उच्छृंखल भाव से घटनाओं को मनमानी रीति से वर्णन करने के लिए मुक्त नहीं होता। साहित्य स्वयं में एक अनुशासन है और साहित्यकार वास्तविक अर्थ में **'स्वतंत्र'** होता है, उच्छृंखल नहीं, अर्थात् वह 'स्व' (अपने क्षेत्र) में 'तंत्र' (नियम) से बंधा होता है। और यह तंत्र है अपनी रचना में उद्भूत 'संसार' की यथार्थता और सचाई से पाठकों को विश्वस्त करना, कल्पित को भी वास्तविक के रूप में पेश करना। और वह अपने लक्ष्य में सफल कैसे होता है? निश्चय ही वास्तविक जीवन में होने वाले क्रिया-कलाप के पर्यवेक्षण से वह वास्तविक संसार का निरीक्षण करता है, विभिन्न व्यक्तिपरक घटनाओं के माध्यम से सामान्यीकृत व्यवहार के 'पैटर्न' की संभावनाओं से अपने को विश्वस्त कर लेने के पश्चात् उसके संदर्भ में कुछ विशेष परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है (जो संभव है पहले न घटी हों), और पूर्वगृहीत सामान्यीकृत व्यवहारों के सहारे ही 'पैटर्न' के भीतर से 'उप-पैटर्न' ढूँढ़ निकालता है। इसी 'उप-पैटर्न' को आलोचक मानव-व्यवहार के संदर्भ में अंतर्जगत का अन्वेषण कहते हैं। वस्तुतः यह संपूर्ण क्रिया ठीक उसी प्रकार चलती है जैसे विज्ञान के क्षेत्र में।

उदाहरण के लिए, दास्तायेव्स्की की उपन्यास-कला को ही लें। दास्तायेव्स्की को आलोचकों ने मनोवैज्ञानिक उपन्यास का सबसे समर्थ रचनाकार स्वीकार किया है (स्लोनिम, 1959:107), उसने अपने मनोवैज्ञानिक उपन्यास में अंतश्चेतना की प्रायः संपूर्ण परिधि को ही समेट लिया है। लेकिन मनोविज्ञान को मनोविज्ञान के लिए न अपना कर उसने अपने उपन्यासों में उसका लक्ष्य 'अंतर्जगत के सूक्ष्म तत्वों का अन्वेषण' (लेवरिन, 1947 : 97) रखा था और इस अन्वेषण के लिए वह मानव जीवन को कुछ विशेष असामान्य परिस्थितियों में डाल कर उसकी प्रतिक्रिया देखने-समझने की कोशिश करता है। सच तो यह है कि आंतरिक जगत के सूक्ष्म तत्वों का उद्घाटन वह मानव-जीवन की असामान्य प्रतिक्रिया के माध्यम से करने में सफल होता है और इस असामान्य प्रतिक्रिया का सीधा संबंध 'असामान्य परिस्थितियों' से है। यही कारण है कि दास्तायेव्स्की के प्रायः सभी उपन्यासों की रचना, उसके 'नायकों' के जीवन में आने वाली अत्यंत तनावपूर्ण दो-तीन नाटकीय घटनाओं के इर्द-गिर्द ही सिमटी रहती हैं (फ्रिडलैंडर, 1964 : 380)। मानवीय और अमानवीय तंतुओं को अलग करने के लिए कुछ ऐसी परिस्थितियों का वह निर्माण करता है जहाँ आत्मा के लिए 'विकल्प' की स्थिति उत्पन्न हो जाए, और चरम-बिंदु की स्थिति में व्यक्ति कभी एक ओर झुक कर और कभी दूसरी ओर मुड़ कर अपने व्यवहार से मन के तंतुओं का परिचय दे दे। ऐसे ही क्षणों को ध्यान में रख कर 'अपराध और दंड' का नायक रस्कोल्निकोव अपनी बहन से कहता है —"तुम कभी ऐसे बिंदु पर पहुँच जाओगी, जिसकी सीमा-रेखा पार कर तुम अपने को बहुत अभागी अनुभव करोगी और जिसको न पा कर तुम अपने को और भी अभागी महसूस करने लगोगी।" रूसी कवि मायकोव को लिखे अपने एक पत्र में दास्तायेव्स्की ने स्पष्ट लिखा था, **"मैं हर जगह और हर चीज में उसकी सीमा-रेखा पर पहुँच जाना चाहता हूँ (येमिलोव, 10)।"**

दास्तायेव्स्की का प्रायः प्रत्येक पात्र सीमा का अतिक्रमण करता है। किन असहनीय और अविश्वसनीय परिस्थितियों में वह अपने नायक को ला पहुँचाता है ! और उनके दिल और दिमाग़ के साथ कौन-कौन से प्रयोग वह नहीं करता ? उनको आत्मा की अतल गहराइयों में उतार कर नैतिक भ्रष्टाचार और बौद्धिक अनाचार के द्वंद्व में उलझाते हुए वह उन्हें कहाँ-कहाँ नहीं ले जाता—अपराध, हत्या, आत्म-हत्या और यहाँ तक कि पागलपन तक ! कभी-कभी तो ऐसा लगता है, जैसे उसके नायक भावनाओं की तीव्रता को महसूस करने के लिए इन सीमाओं का भी अतिक्रमण कर जाना चाहते हैं ।

प्रश्न उठाया जा सकता है—क्या दास्तायेव्स्की के उपन्यासों में चित्रित आत्म-पीड़ित पात्रों का यह अतिक्रमण अस्वाभाविक नहीं है, उसके द्वारा चित्रित घटनाएँ एवं वातावरण कृत्रिम नहीं ? क्या उसके उपन्यासों की संपूर्ण पृष्ठभूमि अपने में अयथार्थ नहीं ? ये अनोखी और विरल घटनाएँ, सामान्यीकृत स्थिति से दूर छिटक कर क्या व्यक्तिपरक नहीं हो गई हैं ? क्या अपवाद के भी अपवाद रूप ये नहीं हैं ? दास्ता-येव्स्की के कथा-शिल्प को लेकर आलोचक अपना मत प्रायः इस रूप में देते हैं कि उसकी संपूर्ण कथा-सामग्री—अस्वाभाविक, विरल, कृत्रिम, अयथार्थपूर्ण और मनोवैज्ञा-निक है । वस्तुतः ऐसे ही आलोचक वास्तविक जगत के 'यथार्थ' और साहित्यिक जगत के 'संभावित यथार्थ' का अंतर नहीं समझ पाते। अपने आलोचकों का उत्तर देते हुए स्वयं दास्तायेव्स्की ने स्पष्ट लिखा—"वे मुझे 'मनोवैज्ञानिक' कहते हैं जो सच नहीं । मैं केवल यथार्थवादी हूँ—इस शब्द के सबसे ऊँचे अर्थ में (चिर्कोव, 1964 : 50) ।"

दास्तायेव्स्की यथार्थवादी हैं, इसमें संदेह नहीं, पर सामान्य यथार्थवादियों से वह भिन्न है, इसमें भी संदेह नहीं । मर्झकोव्स्की (1965 : 85) के शब्दों में वह 'प्रयोगपरक यथार्थवादी' है । उसके अनुसार दास्तायेव्स्की अपने वैज्ञानिक शोध के लिए अपनी मशीन और 'ऐपेरेटस' का प्रयोग कृत्रिम एवं अपवादपूर्ण स्थिति में करता है और वह इसलिए कि प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन कर सके । वह इस कृत्रिम एवं असामान्य स्थिति में मानव-मन को ले जा कर यह देखना चाहता है कि वह किस रूप में अपनी वास्तविक प्रकृति को खोलता है। वस्तुतः वैज्ञानिक शोध की पद्धति ही इसमें निहित है कि जानबूझ कर 'कृत्रिम वातावरण' की स्थिति पैदा की जाए और तभी उसके संदर्भ में वस्तुओं की प्रकृति के सही उद्घाटन के लिए विभिन्न प्रयोग हों । दास्तायेव्स्की भी अपने उपन्यासों में इस वैज्ञानिक पद्धति को अपनाता है, वह भी अपने पात्रों को अत्यंत विरल एवं आस्वाभाविक परिस्थितियों के बीच से गुज़रने देता है, यह देखने के लिए कि उसका परिणाम क्या निकलता है । उन विशेष परिस्थितियों में मानवीय व्यवहार की इस वास्तविक परख के सहारे ही आत्मा की अतल गहराइयों में जाकर उसकी प्रकृति का वह रहस्योद्घाटन करता है । जिस वैज्ञानिक प्रणाली को इस युग का सबसे महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन अपनाता है, ठीक उसी प्रणाली को

दास्तायेव्स्की पिछले युग में अपना चुका था, केवल क्षेत्र भिन्न था—एक ने मानव-जीवन और उसकी प्रकृति को अपना शोध-विषय बनाया था और दूसरे ने भौतिक जगत और उसकी प्रकृति को। आइन्स्टीन ने भी असामान्य एवं अत्यंत कृत्रिम परिस्थितियों के संदर्भ में भौतिक-जगत को गुजरने दिया उसने भी 'निष्ठुर प्रयोग' की रीति अपना कर यह कल्पना की—क्या होगा, अगर हम किसी गतिशील वस्तु को प्रकाश-तरंगों की गति से घूमने को विवश करें ? और इसमें आश्चर्य की बात नहीं जब आइन्स्टीन यह स्वीकार करता है—"दास्तायेव्स्की मुझे किसी भी चिंतक, यहाँ तक कि गास से भी अधिक विचार-सामग्री देता है (कुज़्नेत्सोव, 1965 : 85)।"

प्रश्न है—क्या अपने कृत्रिम प्रयोगों द्वारा आइन्स्टीन या अन्य वैज्ञानिक सामान्यीकृत नियमों का पता नहीं देते ? क्या असामान्य परिस्थितियों के माध्यम से सामान्य प्रकृति के रहस्यों का वे उद्घाटन नहीं करते ? और क्या सचमुच दास्तायेव्स्की जैसे तथाकथित मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार अयथार्थ जगत की ही सृष्टि करते हैं ? क्या वे असामान्य कृत्रिम वातावरण के माध्यम से उसी प्रकार सामान्यीकृत नियमों का पता हमें नहीं देते, जैसा वास्तविक जगत के संदर्भ में वैज्ञानिक देते हैं ? जब साहित्य के क्षेत्र में यह स्वीकार किया जाता है कि साहित्य, संभाव्य-अकरणीय (probable impossibility) को अपनाता है, न कि असंभाव्य-करणीय (improbable possibility) को, तब यह 'संभाव्य' (probable) तत्व क्या सामान्यीकृत नियमों की ओर निर्देश नहीं देता ?

कहने का तात्पर्य यह है कि 'मन', 'आत्मा', 'चेतना' आदि के नाम पर साहित्य की जिन प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं की ओर संकेत दे कर आलोचक यह कह कर टाल देते हैं कि उनका विश्लेषण वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा संभव नहीं, वस्तुतः साहित्य को वे आलोचक ही कृत्रिम एवं निर्जीव तथ्य के रूप में ग्रहण करने लगते हैं। वे साहित्य को जीवन और जगत के कार्य व्यापार से असंपृक्त कर, उसके लिए एक बनावटी 'श्रेणी' का निर्माण करते हैं। इससे किसे इनकार हो सकता है कि 'साहित्यिक जगत' बाह्य जीवन के वस्तुगत जगत की यथातथ्य नकल नहीं, और वह हो भी नहीं सकता। पर इससे भी किसे इनकार हो सकता है कि साहित्यिक जगत, वास्तविक संसार से असंबद्ध नहीं। साहित्यिक और बाह्य-जगत में चरण-प्रति-चरण अनुरूपता नहीं, पर उसमें 'आंतरिक अनुरूपता' (internal harmony) के आधार पर सीधा संबंध है। प्रश्न सादृश्य का नहीं, प्रश्न उनके संबंधों की आंतरिक अनुरूपता का है, अर्थात्, सवाल तथ्यों की समानता एवं घटनाओं की बाह्य एकरूपता का नहीं, वरन् तथ्यों के आंतरिक गठन की अन्विति एवं फलन के सामंजस्य की एकरूपता का है।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि साहित्यकार फोटोग्राफ़र नहीं जो वस्तुओं का यथातथ्य स्वरूप उतारता है, बल्कि वह चित्रकार की भाँति कलाकार है जो वस्तुओं को उनकी संघटना (structure) के रूप में ग्रहण करते हुए, उसके आधारभूत

तत्वों की 'आंतरिक अन्विति' को चित्रित करता है । यह ठीक है कि 'चित्र के रूप में कलाकृति, वस्तु की हूबहू प्रतिच्छवि नहीं, पर इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि वह चित्र, वस्तुतः उसी वस्तु का चित्र है । अंतर है तो केवल इतना कि बाह्य जगत की वस्तु, जो पहले 'तथ्यपरक' थी, वह साहित्यिक जगत में आ कर 'आंतरिक अन्विति' और 'फलन' के संदर्भ में जुट जाने के कारण 'यथार्थपरक' बन जाती है । प्राकृतिक जगत मूलतः तथ्यपरक होता है, जब कि साहित्यिक जगत यथार्थ-परक । सच, तो यह है कि साहित्यिक जगत, वायवीय, काल्पनिक एवं मानसिक नहीं, वरन् प्राकृतिक जगत की तुलना में कहीं अधिक यथार्थपूर्ण और ठोस होता है ।

सवाल उठ सकता है कि प्राकृतिक जगत का तथ्य साहित्यिक जगत का 'यथार्थ' कैसे बन जाता है ? अगर वैज्ञानिक और साहित्यकार, दोनों ही एक ही दुनिया के अनुभवों को अपना 'विषय' बनाते हैं, तो उनका प्रतिपाद्य विषय एक हो कर भी दो भिन्न स्तरों की सामग्री कैसे बन जाता है ? माना जाता है कि उनका भेद दो भिन्न दृष्टियों का परिणाम है । वे एक ही तथ्य को भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं । पर वास्त-विक प्रश्न तो यह है कि इस भिन्न दृष्टिकोण का हम पता कैसे पाते हैं ? हम उनके अंतर को देखते हैं तो आखिर किस माध्यम से ? निश्चय ही हम इसे अभिव्यक्ति के आधार पर देखते-समझते हैं; हम इन दो भिन्न दृष्टिकोणों के अंतर को भाषा और शैली के माध्यम से अनुभव करते हैं । अगर ये दो दृष्टिकोण अनभिव्यक्त रह जाएँ, अगर साहित्यकार और वैज्ञानिक की 'एप्रोच' अपनी अभिव्यक्ति न पा सके, तो यह भी निश्चित है कि वह 'व्यक्तिगत' सामग्री बन कर ही रह जाएगा, और उसका पता हम न पा सकेंगे । उस स्थिति में यह निर्णय देना भी असंभव होगा कि उसका दृष्टिकोण 'वैज्ञानिक' था या 'साहित्यिक', अर्थात्, वास्तविक जगत के तथ्यों की खोज-बीन कर रहा था अथवा उसके संदर्भ में यथार्थ का निर्माण । येलमस्लेव तो उपन्यास और विज्ञान के अंतर को मात्र अभिव्यक्ति-भेद के रूप में स्वीकार करता है । उसके अनुसार उपन्यासकार अपनी वस्तु-सामग्री को 'सिंटैग्मेटिकली' (syntagmatically) प्रस्तुत करता है, जब कि वैज्ञानिक उसी तथ्य को 'पैराडिग्मैटिकली' (paradigma-tically) । इसी प्रकार कविता और विज्ञान की अभिव्यक्ति-शैलियों की विभिन्नता को भी देखा जा सकता है । ये दोनों शैलियाँ एक-दूसरे के सीधे विरोध में हैं । रोमन याकब्सन (1960 : 359) के अनुसार विज्ञान की भाषा में क्रमबद्धता समीकरण (equation) के निर्माण का हेतु होती है जब कि कविता में समीकरण स्वयं क्रमबद्धता का निर्माण करता है । क=का [कुत्ते का बच्चा, पिल्ला (कहलाता) है] वस्तुतः पहली कोटि का वाक्य है जिसे जितने भी सुंदर ढंग से क्यों न कहा जाए, जब तक समीकरण का तत्व, लक्ष्य के रूप में स्थित है, काव्य की अभिव्यक्ति-पद्धति वह नहीं कहलाएगा ।

निष्कर्ष यह कि 'साहित्यिक जगत' बाह्य एवं वस्तुपरक जगत की प्रतिच्छवि

न होते हुए भी उससे असंपृक्त नहीं, और क्योंकि वह भी ठोस और यथार्थ है, अतः उसका भी वैज्ञानिक रीति से विश्लेषण संभव है। साहित्यिक एवं बाह्‌य जगत के अंतर को समझना वस्तुतः वस्तुओं की 'आंतरिक अन्विति' और उनके फलन को समझना है जिसे हम अभिव्यक्ति-शैली के माध्यम से ही जान सकते हैं, कम-से-कम कविता में उसका पता लगाने का और कोई साधन नहीं।

[2]

वैज्ञानिक पद्धति और साहित्यिक प्रक्रिया को ले कर आज जो भ्रांत धारणाएँ फैली हैं वे साहित्य को उसके उचित संदर्भ में हमें देखने ही नहीं देतीं। वैज्ञानिक पद्धति की अपनी सीमाओं के संदर्भ में निम्नलिखित बातें कही जाती हैं। (जोड, 1932 : 182) :

(1) विज्ञान, पूर्ण और अखंड सत्य (यथार्थ) का न तो परिचय दे सकता है और न उसे अभिव्यक्त कर सकता है।

(2) वह व्यक्ति का विश्लेषण कर सकता है 'व्यक्तित्व का नहीं, अतः वह 'हास्य' या 'करुणा' क्या है, यह हमें बता सकता है, पर हमारे भीतर हास्य की भावना अथवा करुणरस का उद्रेक नहीं करा सकता।

(3) यह चेतना प्रक्रिया (विशेष कर मानव-मस्तिष्क के भीतर सक्रिय विकल्प की संभावनाओं) पर पूर्ण प्रकाश नहीं डाल सकता।

(4) वह न तो 'मूल्यों' को परिभाषित कर सकता है और न वह उस पर कोई महत्वपूर्ण सम्मति ही देने की स्थिति में है।

ऐसे विचारक यह मानते हैं कि कविता, विज्ञान की इन सीमाओं का अतिक्रमण कर यथार्थ के पूर्ण और अखंड पक्ष को अभिव्यक्त करती है, वह हमारे भीतर विभिन्न 'रसों' का संचार करने में समर्थ है, वह अतर्क्यपूर्ण कथन और कार्य-कारण संबंधों से रहित असंगत क्रियाओं को अपनी संरचना में इस प्रकार नियोजित करने में समर्थ है कि अतर्क्यपूर्ण कथन और असंगत क्रियाएँ भी पूरी संरचना के संदर्भ में अर्थ-गर्भित हो उठती हैं। इस मान्यता के समर्थकों (शैपिरो, 1953, मेकलीश, 1960) के अनुसार विज्ञान जिस अर्थ की खोज करता है वह मेज, पत्थर, नक्षत्र आदि वास्तविक उपादानों में निहित नहीं रहता। वह तो उन आश्चर्यजनक समीकरणों (equations) के भीतर सिमटा रहता है जो उन नियमों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनके लिए मेज, पत्थर या नक्षत्र आदि उपादान मात्र के रूप में सिद्ध रहते हैं। दर्शन का क्षेत्र इससे भिन्न है। वह जगत की निरर्थक जटिलताओं के बीच व्यवस्थात्मक एवं साधारणीकृत रूपों की खोज को अपना लक्ष्य बनाता है, जो निरर्थकता को एक सार्थक मूल्य प्रदान कर सके, जटिलताओं के भीतर से एक सामान्यीकृत सहज रूप की स्थापना कर सके। विज्ञान और दर्शन के विरोध में कविता

अपने दायित्व का निर्वाह करती है। वह 'संपूर्णता' को अपना लक्ष्य बनाती है और वस्तुओं को उसके परिवेश मे बाँधकर रखती है। कविता अपनी सृष्टि में 'संपूर्णता' को संपूर्ण जटिलताओं के साथ व्यक्त करने के कारण यथार्थ के पूर्ण पक्ष पर बल देती है।

कविता के एक और महत्वपूर्ण आधार की ओर विद्वान संकेत देते पाए जाते हैं। कविता, 'अज्ञात' के प्रति उन्मुख ही हो, ऐसा आवश्यक नहीं। वरन् यह भी कहा जा सकता है कि कविता, 'ज्ञात' के प्रति एक श्रम-साध्य जागरूकता की सिद्धि है। विज्ञान का प्रत्येक नियम अज्ञात को ज्ञात बनाने की ओर प्रवृत्त होता है, उसकी पद्धति, हमारी ज्ञान-क्षुधा को तृप्त करती है, पर कविता से उद्भूत ज्ञान, न केवल अंतर्विरोधी हो सकता है, अपितु उसका असंगत होना भी संभव है। निष्कर्ष यह है कि कविता, बाल-सुलभ ज्ञान की तरह 'भोली' होती है, न कि वैज्ञानिकों के ज्ञान की तरह बुद्धि-प्रवण और तर्क-सिद्ध (Poetry is innocent and not wise)।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि विज्ञान वस्तुओं को खंडित कर उसके अंगों का केवल विश्लेषण करता है, वे वस्तुत: यह भूल जाते हैं कि वैज्ञानिक प्रक्रिया केवल विश्लेषणात्मक ही नहीं होती। विज्ञान वस्तुओं का विश्लेषण अवश्य करता है, यहाँ तक कि वह उसके आधारभूत तत्व, अर्थात्, अणुओं और परमाणुओं तक जा पहुँचता है, पर अणु और परमाणु उसके लक्ष्य नहीं होते। बल्कि, इसके विपरीत वस्तु-विशेष के संदर्भ में अणु एवं परमाणु की विशिष्ट संघटना का पता लगाना उसका चरम साध्य होता है। यह संघटना और संघटना के आधार पर वस्तुओं का ज्ञान, विज्ञान की संश्लेषणात्मक पद्धति पर आधारित है, जिसकी वह उपेक्षा नहीं करता। किसी वस्तु की सही और पूर्ण जानकारी, उस वस्तु की आंतरिक प्रकृति का परिचय पाने के बाद ही संभव है और आंतरिक प्रकृति, उस वस्तु की संरचना के बाद ही जानी जा सकती है।

विज्ञान वस्तुओं की आंतरिक प्रकृति को उसके चरमतम खंडों की 'अन्विति' और 'कार्य फलन' के संदर्भ में समझने का आग्रह करता है। 'अन्विति' का संबंध, खंडों के बीच में पाए जाने वाले अंतस्संबंधों के ज्ञान के साथ संबद्ध होता है। अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विज्ञान वस्तुओं को विश्लेषणात्मक प्रक्रिया के आधार पर खंड-खंड कर वहीं उसे छोड़ नहीं देता, वरन् 'अन्विति के कार्यफलन' के आधार पर उसका संश्लेषण भी करता है। यह संश्लिष्ट रूप, वस्तुत: 'पूर्णता' का मुखापेक्षी होता है, न कि अपूर्णता का।

इसी संदर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि यह मान्यता कि कविता, 'ज्ञात' को लेकर चलती है और विज्ञान 'अज्ञात' को अपना लक्ष्य बनाता है—नितांत भ्रामक है। वास्तविक जीवन का यह आश्चर्यजनक व्यंग्य है कि जिसे हम जितना ही अधिक

सहज और परिचित समझते हैं उसके निकट संपर्क में आने पर वह उतना ही अधिक दुरूह और अपरिचित निकलता है । जीवन का निकटतम संबंधी, संबंधों के घनिष्टतम क्षणों में अबूझ पहेली बन जाता है। सच तो यह है कि जिसे हम ज्ञात समझते हैं अनुभव-सिद्धि के समय में वही अचानक अज्ञात दीखने लगता है । कवि, ज्ञात वस्तुओं को उनके ज्ञातत्व रूप के कारण नहीं वरन् उसके अज्ञात पक्ष के फलस्वरूप अपना प्रतिपाद्य बनाता है ।

इंद्रियगत अनुभवों का यह नियम रहा है कि जिन वस्तुओं एवं क्रियाओं के हम अभ्यस्त हो जाते हैं वे अनुभव ही हमें सबसे अधिक सहज और ज्ञात लगने लगते हैं । सहज और ज्ञात वस्तुओं के प्रति हम अपना आकर्षण छोड़ बैठते हैं, हम उन पर अपनी दृष्टि डालते हैं पर उन्हें देखते नहीं, हम उनको अपने विचारों का साधन बनाते हैं पर उन पर विचार नहीं करते । कवि, अभ्यस्त जीवन की इन सहज और ज्ञात वस्तुओं की प्रकृति से हमें परिचित कराना चाहता है अतः अभ्यस्त जीवन के सहज पक्ष से हटा कर उसे एक दूसरे ही धरातल पर प्रतिस्थापित करता है, जो हमारे लिए अपरिचित हो, नया हो, अज्ञात हो, जिसके पहिचानने के लिए हमें अपनी सक्रिय चेतना का उपयोग करना पड़े । ज्ञात और सहज वस्तुएँ वस्तुतः अपने परिचित संदर्भ के कारण, अपने एक या दो गुणों के आधार पर ही, अपनी स्थिति का आभास दे जाती हैं । व्यावहारिक जीवन में हम 'वस्तुओं' की सत्ता से नहीं बल्कि वस्तुओं के इसी 'आभास' और 'संकेत' परक अर्थों से अपना निर्वाह करते हैं । कवि, जब ज्ञात को भी अज्ञात और सहज को भी अपरिचित के रूप में अभिव्यक्त करता है तब वस्तुतः वह 'आभास' और 'संकेत' की दुनिया से हटाकर वस्तुओं की अपनी सत्ता और संरचना के संदर्भ से हमारा परिचय कराता है ।

काव्य-प्रक्रिया के संदर्भ में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि काव्य-वस्तु, किसी अन्य वस्तु के प्रतीक रूप में सिद्ध नहीं होती । वह स्वयं साध्य है । वह 'छाया', 'आभास' और 'संकेतों' की दुनियाँ का निर्माण नहीं करता अपितु स्वयं अपना संसार होता है । दैनिक जीवन में आने वाली वस्तुएँ, भाषा के संदर्भ में भाषिक प्रतीकों के माध्यम द्वारा जानी जाती हैं और जो भी प्रतीक होता है, वह संकेतों के द्वारा जाना जाता है । 'संकेत' तो केवल संकेत होता है, एक गुण के संकेत द्वारा उस पूरे वस्तु का आभास करा देता है जहाँ, न तो उस वस्तु के अन्य गुणों को जानने की आवश्यकता होती है और न उस पर ध्यान देने का समय ही । इंद्रिय-बोध की यह पद्धति ही व्यावहारिक जीवन का सामान्य पक्ष है ।

काव्यात्मक बोध, काव्य-वस्तु के बहुस्तरीय पक्ष की अभिव्यक्ति का परिणाम होता है । काव्य-वस्तु, प्रतीकवत न होने के कारण अपने भीतर बहुस्तरीय पक्ष को समेटे रहती है । पेपर (1938 : 115) ने जिस 'संदर्भवाद' की मान्यता को अपनाया है उसका मूल सिद्धांत इस तथ्य को सामने लाता है कि 'कलात्मक संघटना, कला-वस्तु

की वह संरचना है जहाँ उसके बहुस्तरीय पक्षों की आंतरिक विषमता को बिना मिटाये ही उनमें आंतरिक अन्विति स्थापित की गयी हो।' इसी सिद्धांत की पुष्टि करते हुए हान (L. E. Hahn) का कहना है कि सभी वस्तुओं की पूर्णता, विश्लिष्ट रूप में खंडित होकर बहुस्तरीय पक्ष को पहले जन्म देती है और ये विश्लिष्ट रूप जिस पूर्ण 'कला-वस्तु' को संश्लेषणात्मक प्रक्रिया द्वारा जन्म देते हैं, उसमें वे (बहुस्तरीय पक्ष) संश्लिष्ट होकर भी मिट नहीं जाते, उसमें एकरूप होकर भी वे अपनी सत्ता खो नहीं देते। "काव्य-वस्तु के निर्माण में योग देने वाले इन विश्लिष्ट पक्षों का जितना ही सही ज्ञान कवि या आलोचक को होगा उसी अनुपात में काव्य-वस्तु को संपूर्णता के साथ ग्रहण करने में वह सक्षम होगा, यद्यपि यह भी सत्य है कि (काव्य-वस्तु की) संपूर्णता, विश्लिष्ट पक्षों का केवल जोड़ मात्र नहीं होता (Hahn, 1942 : 116)।"

कहने का तात्पर्य यह कि काव्य-प्रक्रिया भी ज्ञात के साथ अज्ञात को लेकर चलती है। वह भी वैज्ञानिक प्रक्रिया की भाँति विश्लेषण प्रक्रिया के बाद ही काव्य-वस्तु का संश्लिष्ट रूप सामने लाती है। विज्ञान और कविता, दोनों ही वस्तुओं (विज्ञान भौतिक वस्तुओं और कविता, काव्य-वस्तुओं) को उसके खंडों की आंतरिक अन्विति के संदर्भ में 'पूर्णता' प्रदान करते हैं। इनमें अंतर है तो अभिव्यक्ति-पद्धति का। विज्ञान, खंडों की जिस आंतरिक अन्विति के संदर्भ में वस्तुओं को पूर्णता प्रदान करता है उसे तर्क-सिद्ध करना चाहता है अतः उनके बीच कार्य-कारण संबंधों की स्थापना भी करता है। पर कविता में खंडों की जिस आंतरिक अन्विति के परिप्रेक्ष्य में काव्य-वस्तु को संपूर्णता प्रदान की जाती है, उसके संदर्भ में खंडों (विभिन्न पक्षों) की सत्ता को नकार नहीं दिया जाता। वरन् ठीक इसके विपरीत उस अभिव्यक्ति-पद्धति का सहारा लिया जाता है जिसके द्वारा विभिन्न पक्षों का अंतर्विरोध एक ओर तो प्रकटतः विषमता की स्थिति पैदा करता है और दूसरी ओर संपूर्ण काव्य-वस्तु के कार्य-फलन के संदर्भ में जिस (अंतर्विरोध) का सहज समाधान भी मिल जाता है।

[3]

ध्यान देने की बात है कि 'प्रकृति' स्वयं तथ्य तथा नियमों को अलग-अलग रूपों में संजोये नहीं रहती। तथ्यों का संबंध प्राकृतिक उपकरणों के साथ बना रहता है पर नियम, प्राकृतिक ही क्यों न हों, वे मानवीय कल्पना के परिणाम होते हैं। प्राकृतिक नियमों को हम प्राकृतिक इसलिए कहते हैं क्योंकि उनका संबंध प्राकृतिक उपकरणों के साथ जुड़ा रहता है। नियम के रूप में वे प्रकृति को देखने और समझने की हमारी दृष्टि के परिणाम होते हैं। सैद्धांतिक भौतिकशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् ब्रेथवेट (1953 : 368) के अनुसार मनुष्य, आभ्युपगमिक (hypothetical) प्रकथन की पद्धति स्वयं प्रस्तावित करता है और प्रकृति का काम केवल इसके सत्य और असत्य पक्ष का निर्णय करना होता है। मनुष्य स्वयं पहले वैज्ञानिक पद्धति का आविष्कार एवं निर्माण करता है और इसके उपरांत इसका अधिगमन करता है कि प्रत्यक्ष

तथ्य इसके अनुरूप है या नहीं। पापर (1965 : 59) के अनुसार तो "सिद्धांत मनुष्यों द्वारा फेंके गए वे जाल हैं जिनके सहारे वैज्ञानिक यथार्थ संसार को पकड़ता है।" और जिसके आधार पर वह उसे (संसार को) बुद्धिगम्य बनाता है, उसकी व्याख्या करता है और साथ ही इनके सहारे उस पर शासन करता है।

वैज्ञानिक सिद्धांतों की सामान्योकृत प्रकृति को देखकर ही अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मैकलीश ने विज्ञान और कविता की मूल प्रकृति की विवेचना करते हुए संकेत दिया है कि जिन वस्तुओं के साथ मनुष्य रहने को बाध्य है अमूर्तन प्रक्रिया द्वारा निरूपित वैज्ञानिक सिद्धांत उनको सीमित करते हैं, उन्हें मानव-जीवन से काटकर जीवन-रस-असंपृक्त कर देते हैं। उदाहरण के लिए विज्ञान, सेब को केवल सामान्यीकृत अमूर्तरूप में ही प्रस्तुत कर सकता है, सेबों के आधार पर सेब के प्रति सामान्य और जातीय धारणा ही दे पाता है। लेकिन कविता का संबंध अमूर्तन प्रक्रिया के साथ नहीं है क्योंकि कविता, वस्तुओं को वस्तुओं के रूप में देखती है। जो विद्वान् अमूर्तन प्रक्रिया में प्रशिक्षित हैं वे सेब को सेब के रूप में जान ही नहीं पाते। वे तो विश्लेषणात्मक बुद्धि के अमूर्तन व्यापार में घुले संसार को ही जान पाते हैं न कि उस संसार को जो बुद्धि के कल्पनात्मक व्यापार द्वारा निर्मित संसार का संश्लिष्ट रूप है।

विज्ञान और कविता के अंतर को समझने समझाने का यह एक दूसरा भ्रामक आधार है। यह मान्यता कि विज्ञान में 'सामान्य' प्रकथन होते हैं और कविता के प्रकथन 'विशिष्ट' होने के कारण अधिक ठोस होते हैं वस्तुतः वस्तु-स्थिति को सही संदर्भ प्रदान नहीं करती। ठोस से ठोस तथ्य की ओर संकेत देने वाले विशिष्ट से विशिष्ट वाक्य भी एक सीमा तक सामान्य ही होते हैं। क्योंकि प्रकथन की प्रकृति ही 'सामान्य' होती है। प्रकथन का संबंध भाषा से है और भाषा का अर्थ-व्यापार अपने सामान्य पक्ष से मुक्त हो ही नहीं सकता (पापर, 1953)। आपत्ति का दूसरा कारण यह है कि "भावों के विषयों और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में जटिलता आने पर भी उन (कविता) का संबंध मूल विषयों और मूल व्यापारों से भीतर-भीतर बना है और बना रहेगा (शुक्ल, 1943 : 143)" सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ने के बाद भी "काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर न होंगे।" अगर भावों के विषय अमूर्त और अगोचर हैं और साथ ही वास्तविक और यथार्थ भी हैं तब वे ठोस-प्रकृति के अमूर्तन व्यापार द्वारा उद्‌भूत सामान्य रूप में ही सिद्ध हो सकते हैं। "भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी मूर्त और गोचर रूप छिपे मिलेंगे"—इस वाक्य द्वारा शुक्ल जी वस्तुतः अमूर्तन व्यापार और वस्तुओं के सामान्यीकृत रूप की ही पुष्टि करते हैं।

सच तो यह है कि प्रक्रिया के धरातल पर विज्ञान और कविता में कोई मूलभूत अंतर नहीं है। कविता भी एक भाषिक संरचना है जो आभ्युपगमिक प्रकथन

की विशिष्ट भाषिक रूपांतरित कृति के रूप में सिद्धि पाती है। इस संरचना की प्रकृति भी विज्ञान में पाये जाने वाले अमूर्त एवं सामान्य प्रकथन के समरूप होती है। आभ्युपगमिक अमूर्त एवं सामान्य प्रकथन को वैज्ञानिक और कवि, दोनों ही सामान्य-भाषा में प्रयुक्त सामान्य शब्दों से भिन्न प्रतीकों द्वारा व्यक्त करते हैं और दोनों ही इन विशिष्ट प्रतीकों के रूप में फेंके गए जाल द्वारा बाह्‌य ठोस संसार को पकड़ना चाहते हैं।

ध्यान देने की बात है कि विज्ञान का प्रमुख लक्ष्य अनुभवों के आधार पर अमूर्त व्यापार एवं प्राकृतिक सामान्यीकृत नियमों का पता लगाना नहीं है वरन् उसका कार्य तो उन प्रतीकों का आविष्कार और प्रतीकात्मक पद्धति का निर्माण करना है जिसके आधार पर अनुभवों का तर्कपूर्ण रीति से निर्वचन किया जा सके। यह संपूर्ण प्रक्रिया सर्जनात्मक कल्पना की अपेक्षा रखती है जो स्वयं अनुभवों पर आधारित होती है। कविता भी मानव-जीवन सापेक्ष अमूर्त और अगोचर मूल प्रवृत्तियों की उस विशिष्ट प्रतीकात्मक पद्धति द्वारा अभिव्यक्ति है जो अपनी प्रकृति में अनुभवसिद्ध रहती है। इसी तर्क के आधार पर प्रसिद्ध भौतिकशास्त्री और दार्शनिक फ्रैंक (1958) की यह मान्यता है कि "वैज्ञानिकों का कार्य संभवतः अपनी मूल प्रकृति में कवियों के कार्य से भिन्न नहीं होता।"

कहने का तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक और कवि समान रूप से 'सामान्यीकृत अमूर्त प्रकथन' को अपना लक्ष्य बनाते हैं और दोनों ही इसके लिए जिन प्रतीकों का सहारा लेते हैं वे सामान्य भाषा में प्रयुक्त भाषिक प्रतीकों एवं उनकी पद्धति से भिन्न होते हैं। दोनों ही इस सामान्यीकृत अमूर्त प्रकथन को "विशिष्ट तथ्यपरकजगत" से जोड़कर अमूर्त को मूर्त, सामान्यीकृत को विशिष्ट और आभ्युपगमिक प्रकथन को यथार्थ प्रकथन में रूपांतरित करने की चेष्टा करते हैं। दोनों ही "सामान्यीकृत अमूर्त प्रकथन" के भीतर सिमटी पद्धति तथा उस पद्धति के भीतर बंधे संसार को निर्वचनात्मक (operational) और प्रत्यक्षीकरण (presentational) युक्तियों के सहारे यथार्थ जगत के अनुभवसिद्ध संसार से संबद्ध करना चाहते हैं।

स्पष्ट है कि विज्ञान और कविता के अंतर को हम 'सत्य' के संदर्भ में यह कहकर नहीं समझ सकते कि वैज्ञानिक और साहित्यिक सत्य में गुणात्मक भेद हैं क्योंकि सत्य का संबंध 'सामान्यीकृत अमूर्त प्रकथन' के साथ है और दोनों ही मूलरूप से इसे स्वीकार कर चलते हैं। इस अंतर को हम विषयवस्तु के आधार पर भी नहीं समझ सकते क्योंकि जिन विषयों के संदर्भ में सत्य को पकड़ने की चेष्टा कवि करता है उसको विज्ञान भी अपना विषय बना सकता है। इसी प्रकार उस मान्यता को भी गलत सिद्ध किया जा सकता है जो यह बताती है कि विज्ञान मानव-जीवन से असंपृक्त कर वस्तुओं के मात्र सामान्यीकृत रूप काही पता देता है क्योंकि विज्ञान भी सामान्यीकृत

अमूर्त प्रकथन को विशिष्ट यथार्थ जगत में रूपांतरित करता है और कविता में वर्णित वस्तुएँ भी विशिष्ट होकर अपने सामान्यीकृत रूप (अमूर्त और अगोचर मूल प्रकृति) की ओर मुड़ी रहती हैं। विज्ञान जिस नियम-पद्धति का निर्माण एवं आविष्कार करता है वह पद्धति मनुष्य की अपनी दृष्टि का परिणाम होती है और वह भी मनुष्य-जाति के संचित अनुभवों के उचित संदर्भ के साथ जुड़ी रहती है।

अंत में निष्कर्ष रूप में, यह दुहरा देना असमीचीन न होगा कि प्रक्रिया के एक धरातल पर विज्ञान और कविता समान हैं।

[4]

वैज्ञानिक एवं साहित्यिक प्रक्रिया के जिस समान धरातल की ओर पहले संकेत दिया गया उससे यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक होगा कि विज्ञान और कविता एक रूप है अथवा वैज्ञानिक एवं काव्यात्मक पद्धति के सर्जनात्मक पक्ष में कोई अंतर नहीं। इस विश्लेषण का लक्ष्य केवल यह दिखलाने का रहा है कि विज्ञान और कविता के अंतर एवं उनकी विशिष्टता को अब तक जिन आधारों पर समझा या समझाया जाता रहा है उनका स्वयं का अपना कोई ठोस एवं तर्कपूर्ण आधार नहीं है। लक्ष्य एवं प्रक्रिया में समान होने पर भी वे भिन्न हैं क्योंकि विज्ञान जिस निर्वचनात्मक प्रक्रिया का सहारा लेता है, कविता उससे भिन्न प्रस्तुतीकरण एवं अभिव्यक्ति-पद्धति का रास्ता अपनाती है। विज्ञान और कविता का अंतर वस्तुतः अभिव्यक्ति पक्ष का अंतर है। **अभिव्यक्ति-पक्ष के इस आधार पर साहित्य के अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति को शैलीविज्ञान कह सकते हैं।**

प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि विज्ञान और कविता का यह अभिव्यक्ति-पक्ष है क्या? अगर अभिव्यक्ति-पक्ष है तो उनके वस्तु-पक्ष का भी होना अनिवार्य है। क्या विज्ञान और कविता के वस्तु-पक्ष में कोई आधारभूत अंतर नहीं?

पहले, दूसरे प्रश्न पर ही विचार कर लें। कुछ विद्वानों का यह मत है कि चाहे विज्ञान हो अथवा साहित्य, चाहे धर्म हो अथवा दर्शन, सभी का कथ्य-पक्ष, 'यथार्थ के किसी न किसी पक्ष की स्वीकृति अथवा खोज है। इस यथार्थ (अथवा उसके ज्ञान) के मुख्य चार प्रकार हैं—(1) भौतिक, (2) आधिभौतिक, (3) अमूर्त और (4) काव्यात्मक। वैज्ञानिक दृष्टि, बुद्धिपरक होती है और वह भौतिक यथार्थ-ज्ञान को अपना लक्ष्य बनाती है, धार्मिक दृष्टि, रहस्यपरक होती है और वह आधिभौतिक यथार्थ ज्ञान को साधती है, दार्शनिक दृष्टि, आदर्शपरक होती है और वह यथार्थ ज्ञान के अमूर्त पक्ष पर आग्रह रखती है, तथा साहित्यिक दृष्टि, सृजनात्मक होती है और अपने लक्ष्य में यथार्थ के कलात्मक पक्ष का निर्माण करती है। यथार्थ ज्ञान के ये चार प्रमुख प्रकार हैं और प्रत्येक प्रकार अपने में स्वतंत्र, स्वनिष्ठ और पूर्ण है। इन विद्वानों के

अनुसार यथार्थ ज्ञान के ये विभिन्न प्रकार अपनी उपलब्धियों के समान हैं और मूल्यों की दृष्टि से इनमें से कोई भी एक दूसरे की तुलना में अधिक या कम सार्थक नहीं।

कवि तो मूलतः कवि है अतः उसकी दृष्टि साहित्यिक और प्रकृति सृजनात्मक होती है और लक्ष्य-रूप में वह कलात्मक यथार्थ को व्यक्त करता है। पर अवांतर से कवि अपनी साहित्यिक दृष्टि के अतिरिक्त वैज्ञानिक, धार्मिक या दार्शनिक दृष्टियों में से किसी एक, दो अथवा सभी दृष्टियों को स्वीकार कर यथार्थ के अन्य प्रकारों को भी अपनी कृति में स्वीकृति दे सकता है। कलात्मक यथार्थ का संक्रमण करते हुए यथार्थ-प्रकार के विभिन्न संयोग को अपनी सृजनात्मक प्रक्रिया में समेटने वाले कवियों का वर्गीकरण कवि-आलोचक शौमिरो ने विभिन्न विशेषणों के साथ किया है। उसके अनुसार यथार्थ-प्रकार के विभिन्न आनुपातिक संयोग को समेटने के कारण कवियों को पाँच श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) **महान** (Great) कवि, जो कलात्मक यथार्थ के साथ-साथ भौतिक, आधिभौतिक एवं अमूर्त यथार्थ को अपनी कृतियों में स्थान देने के कारण साहित्यकार होने के साथ ही साथ एक स्तर पर वैज्ञानिक, धार्मिक और दार्शनिक भी होता है।

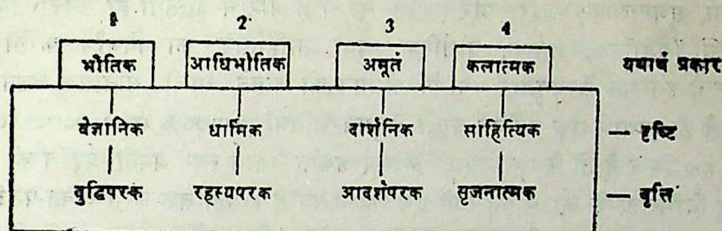
(2) **प्रमुख** (Major) कवि, जो सृजनात्मक पक्ष को स्वीकार करने के साथ ही साथ रहस्यपरक और आदर्शपरक भी होता है और इस प्रकार अपनी रचना में आधिभौतिक और अमूर्त यथार्थ प्रकार को भी समेटता है।

(3) **ऐतिहासिक** (Historic) कवि, जो साहित्यिक दृष्टि के साथ-साथ वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि अपनाने के कारण अपनी कृति में भौतिक एवं अमूर्त यथार्थ-प्रकार को भी साधता है।

(4) **दार्शनिक** (Mystic) कवि, जो अपनी कृतियों में कलात्मक यथार्थ के अतिरिक्त आधिभौतिक यथार्थ-प्रकार का भी आग्रह रखने के कारण सृजनात्मक वृत्ति के साथ-साथ रहस्य परक वृत्ति का भी परिचय देता है।

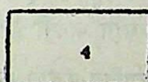
(5) **गौण** (Minor) कवि, जो मूल और अवांतर, दोनों ही रूपों में केवल कलात्मक यथार्थ को ही अपनाते हैं जिनकी दृष्टि शुद्ध साहित्यिक होती है और जिनकी वृत्ति मात्र सृजनात्मक रहती है।

यथार्थ-प्रकार और कलात्मक यथार्थ-प्रकार के संक्रमित विभिन्न रूपों को पृष्ठ 17 पर दी गयी तालिका 1 और 2 द्वारा समझा जा सकता है।



तालिका—1

गौण कवि



यथार्थ-प्रकार

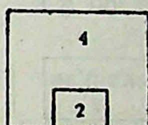
1—भौतिक

2—आधिभौतिक

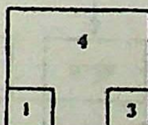
3—अमूर्त

4—कलात्मक

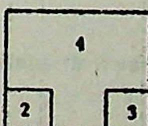
दार्शनिक कवि



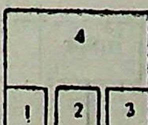
ऐतिहासिक कवि



प्रमुख कवि



महान कवि

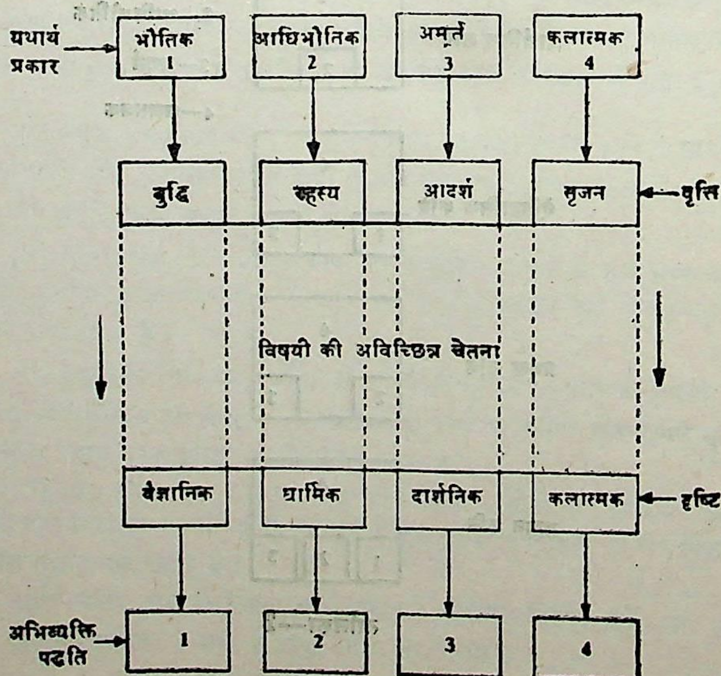


तालिका—2

ध्यान देने की बात यह है कि जो विद्वान् यथार्थ के विभिन्न प्रकार-रूपों को 'स्वनिष्ठ' और अपने में ही पूर्णरूप मानते हैं उनके अनुसार विषयी एक है और विषयी की चेतना भी एक है पर विषय-वस्तु (यथार्थ) की आंतरिक विभिन्नता एक ही चेतना को विभिन्न वृत्तियों (बुद्धिपरक, रहस्यपरक, आदर्शपरक

अथवा सृजनात्मक) द्वारा परिचालित करती है और ये वृत्तियाँ ही उनकी विभिन्न दृष्टियों (वैज्ञानिक, धार्मिक, दार्शनिक अथवा साहित्यिक) का निर्माण करती हैं। स्पष्ट है इस मत के अनुसार यथार्थपरक ज्ञान को जानने वाली मानसिक चेतना तो एक है ही, यथार्थ तक पहुँचने वाली अनुभव-रीतियाँ (modes of experience) भी एक हैं। भिन्न हैं तो केवल 'यथार्थ' के रूप अर्थात् यथार्थ स्वयं अपनी प्रकृति की आंतरिक विभिन्नता के कारण बहु-रूपी एवं बहुस्तरीय है। जहाँ तक अभिव्यक्ति-पद्धति का प्रश्न है, वृत्तियों एवं दृष्टियों द्वारा बाधित एवं निरूपित होने के कारण इसकी भी पद्धति यथार्थ-प्रकार सापेक्ष होगी क्योंकि दृष्टि, वृत्ति द्वारा बाधित है और वृत्ति, यथार्थ-प्रकार द्वारा निरूपित एवं नियंत्रित है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस मत के अनुसार यथार्थ एक रूप न होकर बहुरूपी होता है और यथार्थ-रूप की भिन्नता, अभिव्यक्ति-पद्धति की भिन्नता की माँग करती है।

यथार्थ-प्रकार और अभिव्यक्ति-पद्धति के संबंध को कार्य-कारण संबंधों के आधार पर तालिका 3 में समझाया गया है।



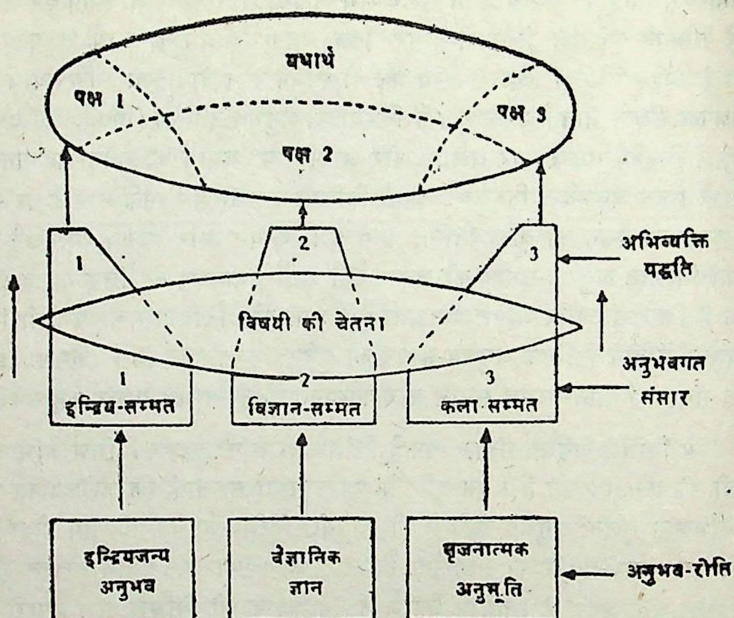
तालिका—3

इस मत की अपनी कई सीमाएँ स्पष्ट हैं। साथ ही इसके कई तर्क भ्रामक हैं। उदाहरण के लिए अनुभव-रीतियों की अपनी विशिष्टता को यथार्थ-रूपों की विशिष्टता

समझना असंगत है। यथार्थ अपने मूलरूप में अखंड, अविच्छिन्न और एकरूप है। इस यथार्थ के अपने कई पक्ष हो सकते हैं पर अंततः वह एक है अर्थात् यथार्थ 'बहुपक्षी' हो सकता है, 'बहुरूपी' नहीं। दूसरा तथ्य यह भी सामने रखा जा सकता है कि यथार्थ के जो विभिन्नपक्ष सामने आते हैं उनके मूल में विषयी की अनुभव-रीतियाँ (modes of experience) हैं जिनके आधार पर अखंड और अविच्छिन्न यथार्थ को जाना-पहचाना जा सकता है। इन अनुभव-रीतियों की अपनी विशिष्ट प्रणाली है जिसके आधार पर जीवन और जगत को देखने की दृष्टि निर्मित होती है। जीवन और जगत को देखने की ये दृष्टियाँ विशिष्ट अनुभव-संसार को जन्म देती हैं। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि अखंड और अविच्छिन्न यथार्थ के ज्ञान की त्रिविधात्मक प्रणाली विषयी की चेतना में तीन विशिष्ट अनुभव-संसार की सृष्टि करती है जिसे क्रमशः इंद्रिय-सम्मत संसार, विज्ञान-सम्मत संसार और काव्यगत चेतना-सम्मत संसार कह सकते हैं।

ये विभिन्न अनुभव-संसार, अपनी विशिष्टता के फलस्वरूप विभिन्न अभिव्यक्ति-प्रणाली की अपेक्षा रखते हैं। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति-पद्धति की विभिन्नता मूलतः अनुभव-रीतियों की अपनी विशिष्टता का परिणाम होता है न कि विभिन्न यथार्थ-प्रकार की आंतरिक विषमता का। कारण, यथार्थ तो एक है, वह अविच्छिन्न और अखंड है। यथार्थ भेद अर्थात् यथार्थ के जो विभिन्न पक्ष हमारी दृष्टि में आते हैं वे वस्तुतः हमारी अपनी अनुभव-रीतियों के आधार पर उद्भूत अनुभव-संसार के भेद के परिणाम हैं। ध्यान देने की बात है कि प्रत्येक अनुभव-संसार, यथार्थ के किसी एक पक्ष को ही पकड़ने में समर्थ है पर विषयी की चेतना अगर रचनात्मक है तो यथार्थ के उस पक्ष के आधार पर उसके पूर्णरूप के निर्माण की ओर प्रवृत्त होती है। इस संदर्भ में वैज्ञानिक और साहित्यकार, दोनों की प्रकृति एक जैसी है। दोनों ही अपने अनुभव-संसार के आधार पर गृहीत यथार्थ-खंड तक अपने को सीमित नहीं रखते वरन् दोनों ही खंड को अखंड तक और सीमित को असीम के छोर तक ले जाना चाहते हैं और इस प्रक्रिया में दोनों ही कल्पना-शक्ति और प्रातिभज्ञान का अवलंबन लेते हैं।

अनुभव-गत संसार और अभिव्यक्ति-पद्धति के संबंध तथा उन संबंधों के आधार पर यथार्थ के खंड (पक्ष) एवं पुनर्निर्मित अखंड रूप की प्रकृति को तालिका 4 (पृष्ठ 20) में दिखलाने का प्रयत्न किया गया है।



तालिका—4

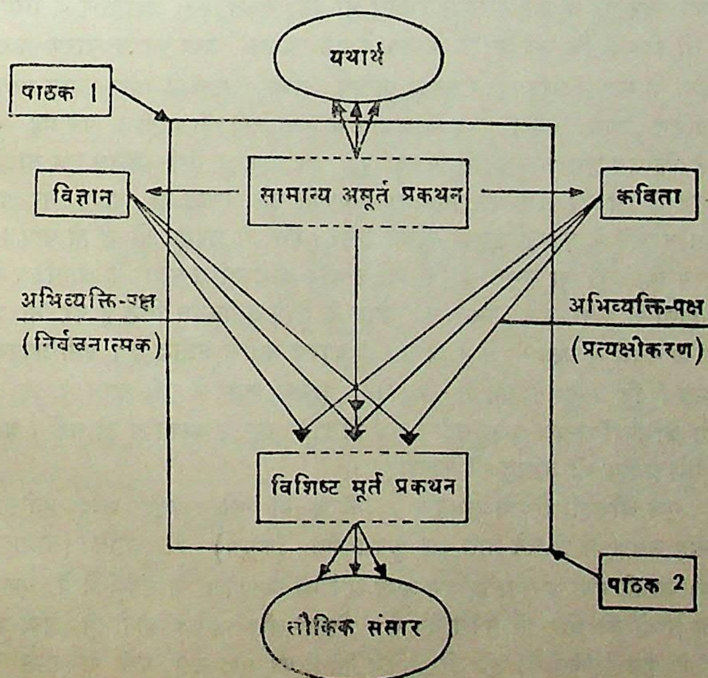
इस पूरी विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति-पद्धति का सीधा संबंध विषयी के अनुभवगत संसार से है और इस अनुभवगत संसार की प्रकृति अनुभव-रीतियों की अपनी विशिष्टता द्वारा बाधित और नियंत्रित होती रहती है। वस्तु-पक्ष के रूप में यथार्थ एक-रूप रहता है। पर सृजनात्मक प्रक्रिया के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि अनुभव-रीतियाँ यथार्थ के अविच्छिन्न रूप के विभिन्न पक्षों पर बल देती हैं पर सचेत वैज्ञानिक अथवा सजग साहित्यकार यथार्थ-खंड से ही संतुष्ट नहीं होता। वह अपने अनुभवगत संसार से बाधित यथार्थ-खंड का सहारा ले यथार्थ के अखंड रूप को अपने सिद्धांत अथवा कृति में बाँधने का सर्जनात्मक प्रयास भी करता है। इस प्रकार, मानव-मन की कल्पना-विधायनी शक्ति का सहारा लेकर विभिन्न अनुभव-प्रणालियाँ, यथार्थ के अविच्छिन्न रूप के विभिन्न पक्षों पर बल देते हुए खंड से अखंड की दिशा में बढ़ने की ओर सतत प्रयत्नशील रहती हैं।

2

विज्ञान और कविता : अभिव्यक्ति-पद्धति की विशिष्टता

पहले व्याख्यान में यह संकेत दिया जा चुका है कि विज्ञान और कविता का अंतर मूलतः अभिव्यक्ति-पक्ष का अंतर है। यहाँ इस तथ्य पर विचार कर लेना अनुचित न होगा कि अभिव्यक्ति-पक्ष से हमारा क्या तात्पर्य है ? संपूर्ण रचना-प्रक्रिया में अभिव्यक्ति-पक्ष का क्या स्थान एवं महत्व है ? वैज्ञानिक और कवि अथवा विज्ञान और कविता के पाठक इस अभिव्यक्ति-पक्ष से किस प्रकार का अपना संबंध स्थापित करते हैं ?

रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में अभिव्यक्ति-पक्ष के स्थान एवं कार्यफलन को तालिका 5 में दिखलाया गया है।



तालिका—5

सामान्य अर्थ में अभिव्यक्ति-पक्ष प्रतीक (sign) का वह पक्ष है जो उसके प्रत्यय (concept) का माध्यम (medium) बनता है। पर भाषिक प्रतीक, प्रत्यय और अभिव्यक्ति-पक्ष के एकीकरण के रूप में सिद्ध रहता है। प्रत्यय के अभाव में अभिव्यक्ति-पक्ष अथवा अभिव्यक्ति के अभाव में प्रत्यय-पक्ष, मात्र अपने आधार पर किसी भी प्रतीक को जन्म देने में असमर्थ है। भाषिक प्रतीक की अपनी प्रकृति एवं स्वरूप के संदर्भ में ये दोनों पक्ष एक दूसरे के साथ इस प्रकार घुले-मिले रहते हैं कि एक के बिना दूसरे की सत्ता की कल्पना करना कठिन हो जाता है। प्रतीक के अभिव्यक्ति-पक्ष के आने के साथ उसका प्रत्यय भी मन में तत्काल उभरता है और प्रत्यय का बोध, बिना उसके अभिव्यक्ति-पक्ष के असंभव है। इस संदर्भ में तुलसीदास की उक्ति—'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न', पूर्णतः सार्थक कथन है क्योंकि 'गिरा' के अर्थ में अभिव्यक्ति-पक्ष और अर्थ के रूप में प्रत्यय-पक्ष के बीच अभिन्नता है।

यहाँ एक-दो तथ्यों पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। पहला, अभिव्यक्ति-पक्ष प्रतीक के प्रत्यय का माध्यम तो है पर इस माध्यम की प्रकृति स्थिर नहीं वरन् गत्यात्मक है, तथा प्रत्यय और अभिव्यक्ति-पक्षों के बीच जो अटूट संबंध है उसका लचीला बनना संभव है। दूसरा, प्रत्यय और अभिव्यक्ति पक्ष की अनिवार्यता एवं उनकी पारस्परिक अन्योन्याश्रित प्रकृति, प्रतीक के संदर्भ में ही सिद्ध रहती है। एक दूसरे स्तर पर वे एक दूसरे से स्वतंत्र भी रह सकते हैं। उदाहरण के लिए यह कहना तो ठीक है कि जब प्रतीक के रूप में हम 'कमल' शब्द का उच्चारण करते हैं तब श्रोता के मन में तत्काल उसका 'प्रत्यय' उभर आता है और कमल-वस्तु का सामान्यीकृत प्रत्यय, 'कमल' शब्द के अभाव में जन्म नहीं ले पाता। पर यह भी तो संभव है कि जब हम 'नीरज' या 'पंकज' कहें तो उसका अभिव्यक्ति-पक्ष तो श्रोता ग्रहण कर ले (अर्थात् शब्द की ध्वन्यात्मक प्रकृति उसे स्पष्ट हो जाए) पर शब्द से परिचित न होने के कारण उसका प्रत्यय उसके मन में उद्भूत ही न हो पाए। इस स्थिति में यह कहा जा सकता है कि प्रत्यय और अभिव्यक्ति-पक्षों के आंतरिक संबंधों की स्थापना के फलस्वरूप 'कमल' तो श्रोता के लिए प्रतीकवत सिद्ध है पर 'नीरज' या पंकज' के संदर्भ में प्रत्यय-पक्ष के अभाव के कारण प्रतीक असिद्ध है। इसी प्रकार यह भी संभव है कि वक्ता के मन में कुछ ऐसे 'प्रत्यय' जन्म लें जो भाषा में उस समय उपलब्ध अभिव्यक्ति-पक्ष द्वारा सटीक एवं निर्भ्रांत रूप में व्यक्त न हो सकें। अनभिव्यक्त ऐसे प्रतीक भी असिद्ध ही कहलाएँगे।

एक और भी स्थिति संभव है। 'नीरज' या पंकज आदि शब्द प्रतीकों का संकेत-ग्रह संसार में खिलने वाले एक फूल-विशेष (कमल) की जाति (सामान्यीकृत धारणा) का ही बोध कराता है, पर अपने अर्थ की व्यापकता के संदर्भ में ये एक दूसरे से भिन्न तथ्यों की ओर भी संकेत देते हैं। 'पंकज' और 'जलज' दोनों ही शब्द-प्रतीक, 'कमल' के फूल (संकेतार्थ) की ओर संकेत देते हैं पर एक उसे पंक के साथ संबद्ध कर 'गूदड़ी के लाल' की भाँति सामने लाता है तो दूसरा जल के साथ उसे जोड़कर

'जनक' की भाँति अपने वातावरण से अप्रभावित एवं निश्छल सिद्ध कर देना चाहता है।

शब्द अपने संकेतार्थ प्रतीक के रूप में सिद्ध रहता है पर कभी-कभी यह भी देखा जा सकता है कि शब्द द्वारा संकेतित वस्तु (referent) अपनी जातीय संस्कृति के संदर्भ में प्रतीकवत सिद्ध हो। उदाहरण के लिए 'कमल' और 'गुलाब' शब्दों द्वारा संकेतित वस्तु ही लें। दोनों सौंदर्य-बोधक अर्थ की संसृष्टि करते हैं, दोनों मन की कोमलता और सुकुमारता को व्यंजित करते हैं पर भारतीय संस्कृति के उपादान के रूप में एक पवित्रता और अम्लान भाव का प्रतीक बनता है तो दूसरा विलासिता और भौतिक ऐश्वर्य के प्रतिनिधि के रूप में सामने आता है। एक को अगर कवि 'भारती-वंदना' करते समय दृश्य-बिंब के रूप में लाता है—'भारती, जय विजय करे। कनक-शस्य-कमलधरे' तो दूसरे को 'अरे, ओ दुष्ट गुलाब,' कहकर संबोधित करता है।

'कमल' के विरोध में 'पंकज' और 'नीरज' तथा 'गुलाब' के विरोध में 'कमल' के इन अतिरिक्त अर्थों की प्रतीति, बहुत संभव है, श्रोता को न हो और शब्द के अर्थ में ये प्रतीक मात्र संकेतित वस्तु की जाति-कल्पना (प्रत्यय) तक ही सीमित होकर रह जाए। उस स्थिति में कहा जा सकता है कि श्रोता के लिए प्रतीक अपूर्ण रूप में सिद्ध है अर्थात् प्रतीक के रूप में शब्द, सिद्ध तो है पर उसकी सार्थकता, अर्थ-प्रतीति के रूप में पूर्ण नहीं है।

शब्द के रूप में प्रतीक और प्रतीक के संदर्भ में जब हम प्रत्यय अथवा अभि-व्यक्ति-पक्ष की बात उठाते हैं तब यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिए कि बात सामान्य-भाषा के संदर्भ में उठाई जा रही है और भाषा का सामान्य रूप समाज की अर्जित परंपरा से संबद्ध है। व्यक्ति को वह उत्तराधिकार के रूप में मिलता है और व्यक्ति इसके माध्यम से संपूर्ण इतिहास को जीता है। वैसे भाषा के माध्यम द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने इतिहास और परंपरा को जीवन में उतारता चलता है पर सामान्य व्यक्ति और सजग साहित्यकार की इस जीने की विधि में अंतर है। सामान्य व्यक्ति इस अर्जित परंपरा के दबाव को जड़ रूप में अनुभव करता है पर साहित्यकार, सामान्य व्यक्ति के इस अर्जित परंपरा की जड़ीभूत प्रकृति को तोड़कर उसके भीतर के सत्य और गतिशील शक्ति को भी अपनाना चाहता है वह "भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता का केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है......" (अज्ञेय, आत्मनेपद प० 37)।

व्यापक अर्थों में वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत सिद्धांत और कवियों द्वारा रचित कृति (कविता) भी एक प्रतीक ही है। इसके भी दो पक्ष हैं—प्रत्यय (कथ्य) और अभिव्यक्ति। कथ्य के रूप में वैज्ञानिक और कवि, दोनों ही 'सामान्य अमूर्त प्रकथन' देना चाहते हैं और अभिव्यक्तिकरण प्रक्रिया द्वारा इसे 'विशिष्ट मूर्त प्रकथन' में रूपां-तरित करते हैं। (देखिये, तालिका 5) यह 'विशिष्ट मूर्त प्रकथन' ही उसका

अभिव्यक्त-रूप (अथवा अभिव्यक्ति-पक्ष) है। प्रतीक का यह अभिव्यक्ति-पक्ष, लौकिक संसार से संबद्ध होकर ही व्यक्त होता है, उससे जुड़कर ही अपनी सार्थकता को पुष्ट और प्रमाण सिद्ध करता है।

'सामान्य अमूर्त प्रकथन' और 'विशिष्ट मूर्त प्रकथन' वस्तुतः प्रतीक के कथ्य-पक्ष के दो धरातल हैं। इन दो धरातलों को ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न शब्दावलियों द्वारा पारिभाषित किया गया है। विज्ञान के संदर्भ में 'पापर' ने इसे सामान्य (universal) और विशिष्ट (singulary) प्रकथन कहा है, प्रभाव-संचार सिद्धांत (communication theory) में इसे टाइप (type) और टोकन (token) कहा जाता है, दर्शन में इसे अमूर्त (abstract) और मूर्त (concrete) कहा गया है, भाषा-विज्ञान में इसे भाषा (langue) और वाक् (parole) का नाम दिया गया है, चारित्रिक विशेषता को उद्घाटित करने के लिए इसे टाइप (type) और व्यक्ति (individual) शब्दावली से बोधित किया गया है।

सृजन प्रक्रिया के एक आयाम का संबंध वस्तुतः 'सामान्य अमूर्त प्रकथन' धरातल का 'विशिष्ट मूर्त प्रकथन' धरातल में रूपांतरण से है। महिम भट्ट ने कवि की प्रतिभा के मानदंड को उसके इस रूपांतरण-क्षमता के संदर्भ में ही स्वीकार किया है—

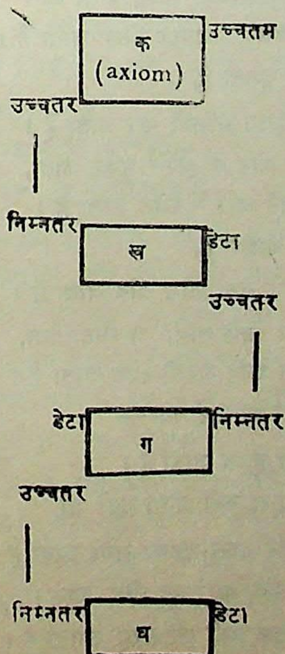
विशिष्टमस्य यद् रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्॥

पदार्थ की सामान्य प्रकृति की प्रतिभा भी इसी में सिद्ध है कि वह वाणी को गोचर रूप दे।

सच तो यह है कि विज्ञान में कविता का अंतर इसी अभिव्यक्ति-पद्धति में निहित है जो सामान्य को विशिष्ट, और अमूर्त को मूर्त रूप में रूपांतरित करता है। कविता की अभिव्यक्तिकरण-पद्धति प्रत्यक्षीकरण (presentation) का रास्ता अपनाती है। कविता सार्वभौम को व्यक्त करने के लिए विशिष्ट का मार्ग इसलिए अपनाती है कि प्रत्यक्ष का वही गोचर रूप है अतः महिम भट्ट के अनुसार वस्तुतः कवि-प्रतिभा की सिद्धि भी कथ्य-पक्ष की सार्वभौम प्रकृति का गोचर वर्णन है। कवि-आलोचक रैन्सम (1938) ने विज्ञान और कला की अभिव्यक्ति-पद्धति की तुलनात्मक विवेचना करते हुए इस तथ्य की ओर संकेत दिया है कि "विज्ञान तर्क और उद्देश्यपरक वृत्तियों को संतुष्ट करता है और वह प्रत्यक्षीकरण की न्यूनतम अभिव्यक्ति है। कला प्रत्यक्षीकरण की वृत्ति को संतुष्ट करती है तथा वह तर्क की न्यूनतम अभिव्यक्ति है।" '(Science gratifies a rational or practical impulse and exhibits the minimum of perception. Art gratifies a perceptual impulse and exhibits the minimum

of reason.)" उसके अनुसार कवि अभिव्यक्ति के क्षेत्र में जो भी अन्वेषण करता है उसका संबंध संवेदनाओं की प्रत्यक्षीकरण-क्षमता से ही रहता है।

अगर कवि की अभिव्यक्ति-पद्धति प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया पर बल देती है तो वैज्ञानिक की पद्धति निर्वचनात्मक प्रक्रिया को अपनाती है। निर्वचनात्मक प्रक्रिया तर्क और विवेक पर आधारित होती है जहाँ अभ्युपगमिक सामान्य अमूर्त प्रकथन (ों) का एक क्रमबद्ध सिलसिला होता है, जिन्हें सामान्यीकरण के आनुपातिक संदर्भ में उच्चतर अथवा निम्नतर सिद्ध किया जा सकता है। उच्चतर प्रकथन अपने से नीचे के प्रकथन की तुलना में अधिक अमूर्त एवं सामान्य होने के कारण अधिक सहज और व्यापक होता है। उच्चतम प्रकथन को axiom कहते हैं। प्रकथनों के इस क्रमबद्ध नियोजन को तालिका 6 द्वारा समझा जा सकता है। ध्यान दें कि axiom अथवा अमूर्त प्रकथन को स्वयं उसके कथन के आधार पर अप्रामाणिक अथवा असत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। अपने से नीचे के स्तर के प्रकथन के संदर्भ के भीतर आने वाले डेटा को स्पष्ट एवं अस्पष्ट करने की क्षमता के आधार पर ही उसको पुष्ट अथवा खंडित करना संभव है। प्रकथन जिस अनुपात में व्यापक एवं अमूर्त होता जाएगा उसी अनुपात में उसके असत्य एवं अप्रामाणिक सिद्ध होने की संभावना भी बढ़ती जाएगी।



तालिका—6

विज्ञान की निर्वचनात्मक अभिव्यक्ति-पद्धति इस प्रकार की है कि उसके प्रकथन को अपने निम्नतर प्रकथन और डेटा की अंतर्विरोधी प्रकृति के संदर्भ में असत्य एवं अप्रामाणिक सिद्ध किया जा सकता है। पर जैसा ऊपर संकेत दिया जा चुका है, कविता प्रस्तुतीकरण अभिव्यक्ति-पद्धति को अपनाती है अत: उसकी उक्तियों का खंडन इस रीति से संभव नहीं बल्कि आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि कविता की उक्तियाँ होती ही ऐसी हैं जो तर्कविरोधी और व्यावहारिक ज्ञान के संदर्भ में असंगत लगती हैं। लेकिन ऊपर से तर्कविरोधी और असंगत प्रतीत होने वाली उक्तियों को कविता की पूरी संरचना के संदर्भ में रखा जाए, तो उसकी असंगतियों का अपने आप निराकरण हो जाता है।

उदाहरण के लिए तीसरे तारसप्तक के कवि केदारनाथसिंह की कविता 'अनागत' को लें। सुविधा और व्याख्या के लिए पूरी कविता नीचे उद्धृत की जा रही है :

अनागत

इस अनागत को करें क्या ?
जो कि अकसर बिना सोचे, बिना जाने
सड़क पर चलते अचानक दीख जाता है।
किताबों में घूमता है,
रात की वीरान गलियों पार गाता है।
रात के हर मोड़ से होकर गुज़र जाता,
दिन ढले सूने घरों में लौट आता है।
बाँसुरी को छेड़ता है,
खिड़कियों के बन्द शीशे तोड़ जाता है।
किवाड़ों पर लिखे नामों को मिटा देता,
बिस्तरों पर छाप अपनी छोड़ जाता है।
इस अनागत का करें क्या—
जो न आता है, न जाता है।
आजकल ठहरा नहीं जाता कहीं भी
हर घड़ी, हर वक्त खटका लगा रहता है।
कौन जाने कब, कहाँ वह दीख जाए।
हर नवागन्तुक उसी की तरह लगता है।
फूल जैसे अँधेरे में दूर से ही चीखता हो,

इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है।
हाथ उसके
हाथ में आकर बिछल जाते
स्पर्श उसका
धमनियों को रौंद जाता है।
पंख
उसकी सुनहली परछाइयों में खो गये हैं।
पाँव
उसके कुहासे में छटपटाते हैं।
इस अनागत का करें क्या हम
कि जिसकी सीटियों की ओर
बरबस खिंचे जाते हैं।

कविता के शीर्षक को ही लें—'अनागत' अर्थात् अन्+आगत। अन्-उपसर्ग निषेधात्मक अर्थ के लिए है और वह 'अनाचार, अनायास' आदि शब्दों के निषेधार्थी अन्-प्रत्यय के समानांतर है। इसी प्रकार 'आगत' शब्द का - त प्रत्यय भूतकालीन कृदंत का प्रतीक है और 'गत<गम्, भूत<भू, तृप्त<तृप्, मत्त<मद' आदि में प्रयुक्त त-प्रत्यय के समान है। अतः 'आगत' का अर्थ हुआ 'आया हुआ' और 'अनागत' कहने से अर्थ हुआ आगत का निषेध। पर जो 'आया हुआ' है उसका निषेध कैसा ?

कविता का एक कथन है :

'इस अनागत का करें क्या—
जो न आता है, न जाता है।....'

प्रश्न उठाया जा सकता है कि जो आता है वही तो जाता है। पर उक्ति के संदर्भ में 'अनागत' तो आता ही नहीं, फिर उसके जाने की बात क्यों उठाई गई ? क्या आने और जाने की यह क्रिया अपने में अंतर्विरोधी नहीं ?

कविता में बिंबों के क्रम को लेकर आलोचक नामवरसिंह परेशान हो उठते हैं क्योंकि उनके बीच उन्हें कोई तार्किक अनुक्रम नहीं दिखाई देता। वे लिखते हैं— 'क्या इन बिंबों के बीच कोई निश्चित अनुक्रम है ? स्पष्ट है, कोई क्रम नहीं है। दरपनों के कौंधने के बाद हाथ-से-हाथ बिछलने का चित्र है, फिर स्पर्श से धमनियों के रौंदे जाने का और इसके तुरंत बाद वह फ़रिश्ता बन जाता है जिसके पंख सुनहली परछाइयों में खोए हुए हैं और पाँव कुहासे में छटपटाते हैं। क्या इस क्रमहीनता के द्वारा कवि यह बताना चाहता है कि अनागत के आने में कोई क्रम नहीं है ?' (नामवरसिंह 1968 : 126)।

इन काव्य-उक्तियों को कविता की संपूर्ण चेतना अर्थात् अमूर्त प्रकथन से काट

कर देखें, तो ये निश्चय ही असंगत, तर्क-विरोधी और अंतर्विरोधी प्रतीत होते हैं। कविता स्वयं में एक बिंब होती है और अगर वह बिंब है तो उसका कथ्य-पक्ष भी होगा ही। नामवरसिंह की धारणा है कि "कविता का संक्षिप्त कथ्य यही है कि भविष्य हमारे आसपास ही है किंतु उसका स्वरूप अस्पष्ट और अनिश्चित है फिर भी उसका आकर्षण इतना दुर्निवार है कि हम उसकी ओर बरबस खिंचे जाते हैं।" सच तो यह कि अगर कविता के उस अमूर्त प्रकथन को ठीक से ग्रहण न किया जाए जो कृति-बिंब का कथ्य-पक्ष है और जो कविता के संसार की सृष्टि करता है तब कविता की उक्तियाँ एवं संरचना में नियोजित उसके खंड को उचित संदर्भ न मिलने के कारण उनकी बाह्य असंगतियों का आंतरिक समाधन भी नहीं मिल पाएगा।

'अनागत' कविता, वस्तुतः सृजनात्मक प्रक्रिया के एक विशिष्ट पक्ष पर आधारित कविता है, वह काव्य-वस्तु के रूप में सवेदनाओं की स्वीकृति की कविता है। विवस ने (1955 : 212-6) काव्य-चेतना और सांस्कृतिक मूल्यों के संदर्भ में काव्य-वस्तु की तीन निश्चित अवस्थाओं की ओर संकेत दिया है। पहली अवस्था चेतना के भाषाबद्ध होने के पूर्व की अवस्था होती है जहाँ चेतना तरलावस्था में रहती है और सांस्कृतिक संवेदनाएँ वातावरण में अनगूँज पुकार की तरह व्याप्त रहती हैं। वातावरण में घुली-मिली ये संवेदनाएँ अव्यवस्थित एवं अनिर्धारित रूप में इस प्रकार फैली-बिखरी रहती हैं कि उस वातावरण में जीने वाले संवेदनशील कवि को अनुभूति के धरातल पर स्पर्श तो कर जाती हैं पर उसकी चेतना में बँध नहीं पातीं। काव्यवस्तु की दूसरी अवस्था वह होती है जब कवि सांस्कृतिक संवेदनाओं की अनगूँज पुकार को भाषा में बाँधने की ओर प्रवृत्त होता है और जब बँधने की सृजनात्मक प्रक्रिया में संवेदनाएँ अपनी आंतरिक प्रकृति का उद्घाटन और मूल्यों का निरूपण करने लगती हैं। काव्य-वस्तु की तीसरी अवस्था तब देखने को मिलती है जब निरूपित मूल्यों की सामाजिक स्वीकृति मिल जाने के बाद काव्य-वस्तु एक स्वतंत्र शक्ति का रूप धारण कर दूसरे ज्ञान-क्षेत्रों को भी प्रभावित करने लगती है।

कालक्रम की दृष्टि से काव्य-वस्तु की तीन निश्चित अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं :

(1) **आधानावस्था** (stage of subsistence), जो भाषाबद्ध होने के पूर्व की वह अवस्था है जहाँ काव्य-वस्तु अपने 'होने' की माँग करती पाई जाती है।

(2) **अवधारणावस्था** (stage of insistence), जहाँ सृजनात्मक रूपनिर्धारण की प्रक्रिया में काव्य-वस्तु, भाषा में जन्म लेकर मूल्यों का निरूपरण करती है।

(3) **अवग्रहणावस्था** (stage of existence), जहाँ सामाजिक स्वीकृति मिल जाने के कारण काव्य-वस्तु स्वयं में एक स्वतंत्र शक्ति बन जाती है और अपनी इस स्वतंत्र शक्ति के रूप में वह अपने पूर्ण अस्तित्व का बोध कराने लगती है।

जैसा ऊपर संकेत दिया जा चुका है, 'अनागत' कविता सृजनात्मक प्रक्रिया संबंधी कविता है जिसका प्रतिपाद्य विषय काव्य-वस्तु की आधानावस्था है। 'अनागत' वस्तुतः अमूर्त तरल संवेदनात्मक प्रतीति का प्रतीक है। यह प्रतीति अनुभूतिपरक स्पर्श-मात्र है जो अकसर कवि की धमनियों को रौंद जाता है, पर जब कभी भी उसे कवि मूर्त रूप में पकड़ना चाहता है, 'हाथ उसके हाथ में आकर बिछल जाते हैं।' कवि इस संवेदनात्मक प्रतीति को चेतना के स्तर पर रूपायित करने के लिए बार-बार आकर्षित होता है। इस दुर्निवार आकर्षण को वह छोड़ नहीं पाता क्योंकि यह कवि-प्रकृति की अपनी देन है। काव्य-वस्तु की भाषाबद्ध पूर्व-स्थिति की संवेदनात्मक अनुभूति तो कवि को होती है पर चेतना के धरातल पर उसे मूर्त न कर पाने के कारण उसका विवश मन स्थिर नहीं हो पाता। 'आजकल ठहरा नहीं जाता कहीं भी' क्योंकि 'हर घड़ी, हर वक्त खटका लगा रहता है। कौन जाने कब, कहाँ वह दीख जाए।' काव्य-वस्तु की आधानावस्था (अमूर्त संवेदना) को जब कवि अवधारणावस्था (भाषाबद्ध मूर्त चेतना) में रूपांतरित करने चलता है तो हर दृष्टि से अपने को असमर्थ पाता है क्योंकि एक ओर तो अनागत के पंख 'उसकी सुनहली परछाइयों में खो गए हैं' और दूसरी ओर जब दूसरे सिरे से उसे वह पहचानने चलता है तो पाता है कि 'अनागत' के पांव 'कुहासे में छटपटाते हैं।'

इसमें संदेह नहीं कि आधानावस्था, काव्य-वस्तु की तरल संवेदनात्मक अनुभूति की वह अवस्था है जिसे कवि अपने चारों ओर के फैले वातावरण में बार-बार अनुभव करने के उपरांत भी मूर्त रूप नहीं दे पाता। पर अपनी इस विवशता और तज्जनित पीड़ा से मुक्त होने का साधन भी तो उसके लिए एक ही है। काव्य-वस्तु की आधानावस्था को सृजनात्मक प्रक्रिया द्वारा जब तक भाषाबद्ध अवधारणावस्था में वह रूपांतरित नहीं कर लेता, सृजन की पीड़ा से वह मुक्त भी तो नहीं हो सकता। कवि, विभ्रम की स्थिति में है। जब तक वह इस कार्य में सफल नहीं हो पाता, वह काव्य-वस्तु की इस अपनी संवेदनात्मक अनुभूति का क्या करे :

'इस अनागत का करें क्या हम
कि जिसकी सीटियों की ओर
बरबस खिंचे चले जाते हैं।'

काव्य-वस्तु के इस परिप्रेक्ष्य में काव्य-उक्तियों को लें जो व्यावहारिक ज्ञान के संदर्भ में अंतर्विरोधी और अप्रामाणिक प्रतीत होती थीं। शीर्षक रूप में 'अनागत' का 'आगत' पक्ष इसलिए सार्थक है क्योंकि वह काव्य-वस्तु की अमूर्त संवेदनाओं का प्रतीक बनकर आया है। काव्यानुभूति के धरातल पर ये संवेदनाएँ बार-बार अपने होने की स्थिति को प्रतीत कराती हैं। अतः न केवल वे अस्तित्व में हैं वरन् काव्य-संसार में घटित हैं। निषेधार्थी 'अन्' उपसर्ग की सार्थकता इस तथ्य में निहित है कि काव्य-वस्तु की अमूर्त संवेदनाएँ अनुभूति के धरातल पर घटित होकर भी चेतना के स्तर पर न तो घटित हैं

और न अपना अस्तित्व ही बना पाई हैं। इस दूसरे धरातल पर न होने की स्थिति में होने के कारण वह नहीं होने के समतुल्य है। अतः 'अनागत' प्रतीक का समन्वित अर्थ दो धरातलों को स्पर्श करता है—संवेदनाओं के अमूर्त संसार का धरातल और चेतना का मूर्त-संसार का धरातल।

दूसरी उक्ति को लें—'इस अनागत का करें क्या—जो न आता है, न जाता है।' अनागत, अर्थात् काव्य-वस्तु संबंधी संवेदनाएँ आती नहीं ('आने' में एक सायास प्रयत्न का भाव है), वे तो कवि के चारों ओर फैले वातावरण में व्याप्त कंपन की तरह हैं जो स्पर्श की अनुभूतियों की तरह स्वयं कवि के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाती हैं। संवेदनाओं के अमूर्त संसार के धरातल पर स्वतः उद्भूत होकर भी सायास प्रयत्न के बावजूद भी यह 'अनागत' चेतना के मूर्त संसार के धरातल पर नहीं उतरता अर्थात् काव्य-बिंब में नहीं ढल पाता। अतः 'न आता है' का अर्थ संवेदनाओं के मूर्त धरातल से संबंद्ध होकर यह संकेत देता है कि काव्य-वस्तु संबंधी संवेदनाएँ 'स्वयमेव' उद्भूत हैं और 'न जाता है' उक्ति इस तथ्य की ओर संकेत देती है कि काव्य-वस्तु संबंधी संवेदनाएँ न तो चेतना के मूर्त धरातल पर व्यक्त हो पाई हैं और न कवि को सृजनात्मक क्षणों की पीड़ा से मुक्त ही कर पाई हैं।

रही 'अनागत' के आने के अनुक्रम की बात। काव्य-वस्तु के संदर्भ में यह एक निरर्थक प्रश्न है क्योंकि 'अनागत', अनुभूति-रूप में एक साथ कई स्तरों पर कवि-प्रकृति को स्पंदित करता है, चेतना के स्तर पर जन्म न ले पाने के कारण तरल संवेदनाओं के जालरूप में वह फैला और उलझा है।

सृजनात्मक प्रक्रिया के संदर्भ में केदारनाथसिंह की एक दूसरी कविता है—प्रक्रिया, जो उनके कविता-संग्रह 'अभी, बिल्कुल अभी' की पहली कविता है। प्रस्तुत कविता में कवि ने "होने की प्रक्रिया की पूर्व स्थिति" अर्थात् आधानावस्था से आगे बढ़कर रूप-निर्धारण के हेतु सृजनात्मक प्रक्रिया के उस परिणाम तक पहुँचने का प्रयास किया है जहाँ पूर्व स्थिति की अनगूँज संवेदनारत काव्य-वस्तु का ठोस रूप धारण करती है जो काव्य-वस्तु की अवधारणावस्था है।

कविता 'होने की प्रक्रिया की पूर्व स्थिति' से प्रारंभ होती है जहाँ कवि की चेतना तरलावस्था में है और संवेदनाएँ अमूर्त तथा व्यापक। उसकी कल्पना अपने वातावरण में व्याप्त हल्की-से-हल्की लहर से परिचित होना चाहती है, और व्यापकता के धरातल पर समष्टि को ही अपने भीतर समाहित कर लेने को इच्छुक है। अमूर्त एवं अनिर्धारित संवेदनाओं की अनुभूति उसे वस्तुओं से जोड़ती नहीं अपितु दृश्यों के पार पहुँचाती है। अनुभूति एवं संवेदनाओं को वस्तुओं से जोड़ने का कार्य तो 'शब्द' करते हैं लेकिन जिस स्थिति में कवि है वह तो भाषा-पूर्व स्थिति है। जिसे कवि ने 'किसी भी भाषा के अज्ञात—शब्द-कोष में' के कथन द्वारा व्यक्त किया है :

मैं
जब हवा की तरह
दृश्यों के बीच से गुजरता हुआ
अकेला होता हूँ,
तो क्षण भर के लिए
मुझे कहीं भी देखा जा सकता है,
किसी भी दिशा से
किसी मोड़ पर
किसी भी भाषा के अज्ञात
शब्द-कोष में ।

'किसी भी भाषा के' का दूसरा अर्थ हुआ 'सभी भाषाओं के' अर्थात् भाषा के सार्वभौमिक (universal) तत्व । भाषा के सार्वभौमिक तत्व के रूप में शब्द को कोष में तो पाया जा सकता है पर कठिनाई तो यह है कि भाषा का यह कोष अज्ञात है । और यही नहीं कि किसी एक या दो भाषाओं के शब्द-कोष अज्ञात हों, स्थिति तो यह है कि प्रत्येक भाषा के शब्द-कोष को वह अज्ञात पाता है । वस्तुतः इन बिंबों द्वारा कवि, काव्य-वस्तु की उस स्थिति की ओर संकेत देना चाहता है जो भाषा आवद्ध होने के पूर्व की स्थिति में चेतना तरलावस्था में होकर 'हवा की तरह दृश्यों के बीच से गुज़र' जाती है और संवेदनाएँ अव्यवस्थित एवं अनिर्धारित होने के कारण 'किसी भी दिशा और किसी भी मोड़' पर अनुभूत की जा सकती हैं । चेतना की यह तरलावस्था और संवेदनाओं की अमूर्त स्थिति मनुष्यों के अपने जातीय संस्कार और अनुभव कोश में तो मिल सकती है पर उस शब्द-कोष में नहीं, जिसमें शब्दों के अर्थ मिलते हैं और जहाँ शब्द अनुभूतियों की अमूर्त स्थिति को चेतना के धरातल पर रूपायित करते हैं ।

'अनागत' का कवि भाषा-पूर्व इस काव्यानुभूति के दुर्दम्य आकर्षण के फलस्वरूप उसकी ओर बरबस खिंच जाता है पर उसे रूपायित न कर पाने के कारण उद्विग्न होकर ही रह जाता है क्योंकि उसका काव्य-विषय काव्यानुभूति को व्यक्त न कर पाने की पीड़ा तक सीमित है । पर 'प्रक्रिया' के कवि का विषय काव्यानुभूति को रूपायित करने की प्रक्रिया से संबद्ध है अतः वह उस स्थिति की ओर भी संकेत देता है जहाँ काव्य-वस्तु, होने की लगातार कोशिश' में है, जहाँ काव्यानुभूति 'गूँजहीन शब्दों के घने अंधकार' में है । काव्यानुभूति की पहली स्थिति में वह अकेले अपनी उलझी संवेदनाओं को पहचानने के निमित्त हवा की तरह, दृश्य-वस्तुओं के बीच से गुजरता है पर अपनी दूसरी स्थिति में वह 'कहीं नहीं होता' अर्थात् सर्वत्र व्याप्त हो जाता है वह दृश्य-वस्तुओं को पहचानने वाली वायु-शक्ति के आर-पार जाकर अपनी उलझी, अबूझ संवेदनाओं को पहचानने की कोशिश करता है । अपने इस प्रयत्न में जब-जब वह दृश्य-वस्तुओं से संबद्ध होकर भी असंबद्ध हो जाता है, वह संवेदनाओं की अनुभूति

करने वाले व्यक्तित्व से जुड़कर भी उससे अलग हो उठता है तब वह पूर्वस्थिति की अव्यवस्थित एवं अनिर्धारित संवेदनाओं की 'भीड़' को पहचानने लगता है :

पर मैं
जब कहीं नहीं होता;
सिर्फ कहीं होने की लगातार कोशिश में,
सामने की भीड़ को
दूर से पहचानता हुआ
हवा के आर-पार
एक प्रश्न उछालता हूँ
और हँसता हूँ।
तो न जाने क्यों लगता है
कि गूँजहीन शब्दों के इस घने अन्धकार में
मैं--
अर्थ-परिवर्तन की अबूझ प्रक्रिया हूँ;

सच्चा कवि भाषा का उपयोग नहीं करता। उसके लिए भाषा, वस्तुओं को पहचानने का मात्र माध्यम नहीं होती। यह कार्य तो गद्य-रूप को व्यवहार में लाने वाले वे व्यक्ति करते हैं जो भाषा को माध्यम बनाकर व्यावहारिक रूप से अपना काम निकालना चाहते हैं। भाषा को उपयोग में लाने वाले वस्तुओं का नामकरण (प्रतीकीकरण) करते हैं जिससे वस्तुएँ पहचानी जा सकें। लेकिन यह ध्यान रखने की बात है कि 'नामकरण' करते समय महत्ता वस्तुओं की रहती है और शब्द मात्र उपादान बनकर रह जाते हैं। इसीलिए व्यावहारिक जीवन के गद्यमय अवसरों पर यह पाया जाता है कि वस्तुओं के संदर्भ में 'शब्द' का नाम रूप गौण होकर महत्वहीन हो जाता है। व्यावहारिक जीवन की उपयोगी जिज्ञासा के लिए भाषा, रेलवे टाइम-टेबुल की तरह काम करती है :

'और कितनी सुविधा है
कि हम घर में हों या ट्रेन में,
हर जिज्ञासा—
एक रेलवे टाइम टेबुल से शांत हो जाती है।

('फ़र्क नहीं पड़ता'—केदारनाथसिंह)

जहाँ वस्तुओं के संदर्भ में उसके नाम का महत्व न हो और जहाँ नाम की अपनी सार्थकता, बाह्य जीवन के उपयोगी पक्ष का बंदी बनकर दम तोड़ दे—वहाँ किसी वस्तु के चाहे एक 'नाम' से पहचाने या किसी दूसरे से, कोई फ़र्क नहीं पड़ता :

पर सच तो यह है
कि यहाँ या कहीं भी फ़र्क नहीं पड़ता।

तुमने जहाँ लिखा है 'प्यार'
वहाँ लिख दो 'सड़क'
फ़र्क नहीं पड़ता ।

(फ़र्क नहीं पड़ता)

पर कवि उस काव्य-चेतना को किसी भाषा में व्यक्त करे जिस पर खड़ा होकर वह अकसर महसूस करता है "कि बगल में बैठे हुए दोस्तों के चेहरे । और अफ्रीका की धुंधली नदियों के छोर । एक हो गए हैं," । निश्चय ही इसे भाषा के उपयोगी पक्ष द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता :

'और भाषा जो मैं बोलना चाहता हूँ
मेरी जिह्वा पर नहीं,
बल्कि दाँतों के बीच की जगहों में सटी है ।'

(फ़र्क नहीं पड़ता)

जिह्वा, भाषा-उच्चारण का महत्वपूर्ण करण (articulator) है, व्यावहारिक जीवन में शरीर का यह एक विशिष्ट उपयोगी अंग भी है । कवि, यह अनुभव करता है कि जिस काव्य-चेतना को वह व्यक्त करना चाहता है वह इस 'करण' द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकती । दांत भी शरीर का वह अंग है जिसे उपयोगी उपादान कहा जा सकता है पर 'दाँतों के बीच की जगह' तो वह जगह है जो उपयोगी वस्तुओं के बीच में रहकर भी उपयोगी नहीं, उसकी अगर कोई उपयोगिता है तो व्यावहारिक वस्तुओं के बीच स्थित रहकर भी व्यावहारिकता से मुक्त होने में है ।

कवि किसी अन्य वस्तु का प्रतीक बनाकर शब्द को व्यावहारिकता के स्तर पर नहीं उतारता, साधन-रूप में ग्रहण कर उसे शक्ति-च्युत नहीं करता । कवि के लिए 'शब्द' 'वस्तुरूप' होते हैं, वस्तुओं को पहचानने के माध्यम नहीं बनते, साध्य रूप हैं किसी अन्य लक्ष्य के साधन नहीं और वह इसलिए कि जिस यथार्थ और चेतना को कवि अभिव्यक्ति देने चलता है वह भाषा के अपने गर्भ से उत्पन्न होते हैं । काव्य-वस्तु, भाषा के माध्यम से ही केवल नहीं वरन् भाषा के भीतर रहकर ही अपनी जीवन सत्ता को धारण करती है ।

जब यह कहा जाता है कि शब्दों को 'प्रतीक रूप' में न लेकर 'वस्तु रूप' में ग्रहण करता है तो इसका अभिप्राय मात्र इतना है कि शब्दों द्वारा संकेतित वस्तु को बाह्य संसार में उपलब्ध वस्तुओं से जोड़ने के बजाय वह उन वस्तुओं से उसे जोड़ता है जो काव्य-संसार की हैं । काव्य-भाषा को पारदर्शी शीशे के रूप में वह स्वीकार नहीं करता जिससे होकर दृष्टि बाहर के संसार को देखती है अथवा वह दृष्टि-अक्षम व्यक्ति के उस चश्मे के समान भी उसे नहीं लेता है जिस बाह्य जीवन की धुंधली वस्तुओं एवं अस्पष्ट क्रिया-कलापों को स्पष्टता देने के लिए उपयोग में लाया जाता है । काव्य-भाषा तो विशिष्ट दर्पण के समान होती है जो बाह्य जीवन की यथार्थता को

एक गुणात्मक भेद के साथ स्वयं अपने भीतर प्रतिबिंबित करती रहती है। 'प्रतीक' के रूप में शब्द 'माध्यम बनकर बाह्य-जगत की ओर संकेत भी दे सकते हैं और शक्ति-संपन्न सिद्ध होकर अपने भीतर बाह्य जीवन को समाहित करते हुए स्वयं अपना यथार्थ, भी बन सकते हैं। सामान्य जीवन में 'प्रतीकवत' है और काव्य-जीवन में 'यथार्थवत'।

व्यावहारिक मनुष्य वस्तुओं के साथ खेलता है। उसका जीवन वस्तु-सापेक्ष होता है। जब वह भाषा की सत्ता को स्वीकार करता है तब भी उसका लक्ष्य वस्तुओं को पकड़ना रहता है। वस्तु-निरपेक्ष भाषा न तो उसके लिए उपयोगी है और न तो उसकी लक्ष्य-प्राप्ति का सफल साधन। भाषा का यह रूप सामान्य मानव की उपलब्धि भी है और उसके जीवन की सीमा भी। उपलब्धि इसलिए कि वस्तु की अनुपस्थिति में भी शब्द, वस्तु का बोध करने में सक्षम हैं, चीजों की अदृश्य स्थिति में भी उसका पता बताने में वे समर्थ हैं 'कमल' शब्द की व्यावहारिकता इसमें है कि 'कमल' वस्तु की अनुपस्थिति में भी उसके प्रत्यय-निर्माण में वह सफल सिद्ध है। पर भाषा और शब्द, मनुष्य जीवन की सीमा भी बनते हैं। मनुष्य और वस्तुओं के सीधे संबंध के बीच वे एक ठोस छाया की तरह स्थित भी रहते हैं।

भाषा, वस्तुओं को उनके सही रूप में न देखने देती है और न वस्तुओं के साथ सीधे संबंध-स्थापन की स्वीकृति ही देती है। अनुभूति और बाह्य जगत के बीच वह एक ऐसे पारदर्शी आवरण के समान रहती है जो मनुष्य की पूरी चेतना के सामने हमेशा झूलता रहता है पर अपनी व्यावहारिक प्रवृत्ति से बाधित होकर मनुष्य जिसकी सत्ता के प्रति सचेत नहीं हो पाता। सामान्य व्यक्ति को यह पता नहीं रहता कि उसके जीवन के चारों ओर पड़ा भाषा का यह पारदर्शी पर ठोस आवरण कितना निर्मम है और साथ ही किस सीमा तक वह उसके चारों ओर लिपटा रहता है।

इस पारदर्शी ठोस आवरण की निरंकुश शक्ति से परिचित होने के कारण कवि, एक ओर इससे बचना भी चाहता है और दूसरी ओर इसको साधता भी जाता है। बचने की प्रक्रिया में वह वस्तुओं से सीधा संपर्क स्थापित करता है। वह वस्तुओं को उनके 'नाम' से नहीं वरन् 'हवा की तरह—दृश्यों के बीच से गुज़रता हुआ' अपनी संवेदनाओं के माध्यम से उनको पहचानने का प्रयत्न करता है। साधने की प्रक्रिया में वह भाषा की 'प्रतीकवत' अर्थवत्ता को 'यथार्थवत' सार्थकता में रूपांतरित करता है, शब्दों को उसकी नामपरक अर्थ-व्यंजकता से मुक्ति दिलाकर काव्य-जगत का वस्तु-तत्व बनाता है।

साधने की प्रक्रिया में जब शब्द नामपरक अर्थ-व्यंजकता से मुक्त होकर काव्य-जगत के वस्तु-तत्व बनने की प्रक्रिया में रहते हैं, 'गूँजहीन' (अर्थ विमुख) होने के

कारण उस समय के घने अँधकार की ही सृष्टि करते हैं। इस अंधकार के वातावरण में वस्तु, वस्तु में भेद करना संभव नहीं। शब्द-वस्तु ठोस होते हुए भी यथार्थ की चेतना से संपृक्त न होने के कारण मात्र उपकरण के रूप में स्थित रहते हैं। काव्यार्थ से अभी सधे न होने के फलस्वरूप इनके आपसी संबंध स्पष्ट नहीं हो पाते। अतः अनुभूति की चाहे कटीली झाड़ियाँ हों, धवल चेतना की बत्तखें हों अथवा भविष्यत् आकांक्षाओं की ललक हो, सभी एक-दूसरे में इस प्रकार घुली-मिली होती हैं कि उनकी विशिष्टता को पहचान पाना संभव नहीं हो पाता :

मुझे लगता है
कि गूँजहीन शब्दों के इस घने अन्धकार में
मैं--
अर्थ-परिवर्तन भी
एक अबूझ प्रक्रिया हूँ,
जिसके भीतर
ये लोग,
झाड़ियाँ
बत्तखें और भविष्य
हर चीज एक, दूसरे में
घुलीमिली है।

'गूँजहीन शब्दों को सार्थकता तब मिलती है जब वे अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरते हैं। इस प्रक्रिया में अंधकार में डूबे हुए शब्द, चेतना की प्रत्यय-विधायिनी दृष्टि की रोशनी से उजागर होते हैं। यह 'रोशनी' संवेदनाओं की अपनी गंध से पूरित रहती हैं और संवेदनाएँ, स्वयं विचारों की धार पर चढ़कर तीखी और नुकीली बन पाती हैं। काव्य-वस्तु के तत्व के रूप में कवि जब शब्द को साधता है तब उसकी अर्थ-गर्भित संवेदनाएँ भावुक होकर भी विचारहीन नहीं होतीं क्योंकि कवि की अनुभूतियों के उफनते ज्वार की पृष्ठभूमि में उसके चिंतन-मनन का दीर्घ मंथन रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्यानुभूति 'विचारहीन भावुकता' (thoughtless feeling) नहीं होती। विचार संवलित भाव के मूल में रहता है कवि का अनुभवगत संसार जिसे स्मृति-छवियों का विशिष्ट भंडार कहा जा सकता है। ये स्मृति-छवियाँ, रंगों की अपनी विशिष्टता के आधार पर मूल अर्थ के भीतर एक नए विशिष्ट अर्थ को व्यंजित करने में समर्थ हैं जिसे आलोचकों ने 'द्वितीय,' 'गौण,' 'अंतर्निहित' अर्थ (undertone) आदि नाम दिये हैं। 'प्रक्रिया' के कवि के शब्दों में :

'जड़ें रोशनी में हैं
गंध विचारों में
विचार-स्मृतियों में
स्मृतियाँ रंगों में--

अंत में अर्थ-प्रक्रिया के 'इस संपूर्ण व्यतिक्रम को । भीतर सँभाले हुए' जब कवि चलते-चलते लोक-जीवन की सामान्य भाषा के भीतर से एक शब्द उठाता है तो पाता है कि 'अरे, गुलाब ।' दैनिक जीवन में व्यवहृत लोकभाषा के प्रतीकवत शब्द, कवि के लिए धूलकण के समान हैं जो व्यावहारिकता के पैरों द्वारा बार-बार रौंदे जाते हैं। कवि इसी प्रतीकात्मक शब्द (धूलकण) का अपनी सृजनात्मक प्रक्रिया द्वारा यथार्थपरक शब्द (गुलाब) में रूपांतरण करता है । यही प्रक्रिया वस्तुतः काव्य-विषय (धूलकण) के काव्य-वस्तु (गुलाब) में रूपांतरण की भी है क्योंकि काव्य-वस्तु, भाषा के अपने माध्यम से मुक्त रहकर रूप-निर्माण कर ही नहीं सकती ।

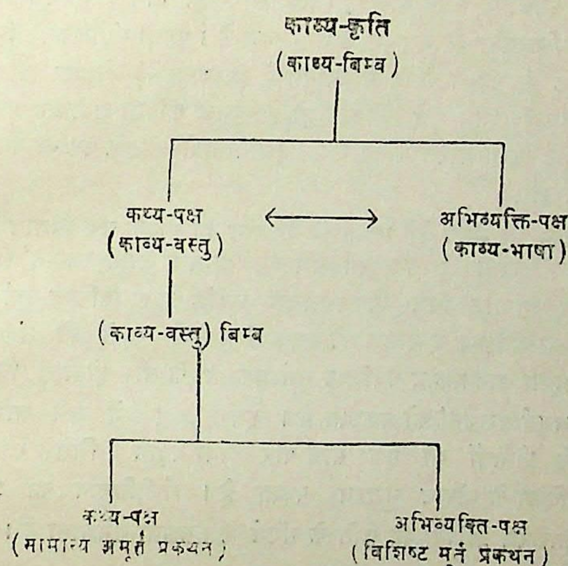
और मैं चुपचाप
इस सम्पूर्ण व्यतिक्रम को
भीतर सँभाले हुए ;
चलते-चलते
झुककर
रास्ते की धूल से
एक शब्द उठाता हूँ
और पाता हूँ कि अरे
गुलाब !

ऊपर की विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्य-कृति स्वयं अपने में पूर्ण बिंब है जिसे हम काव्य-बिंब कह सकते हैं । इस काव्य-बिंब के दो पक्ष हैं—काव्य-वस्तु के रूप में उसका कथ्य-पक्ष और काव्य-भाषा के रूप में अभिव्यक्ति-पक्ष । पर सृजनात्मक प्रक्रिया के संदर्भ में काव्य-वस्तु स्वयं बिंब रूप सिद्ध रहता है । इस काव्य-वस्तु संबंधी बिंब का कथ्य-पक्ष, सामान्य अमूर्त प्रकथन को समाहित किएरहता है और अभिव्यक्ति-पक्ष विशिष्ट मूर्त प्रकथन को अंतर्भुक्त किए रहता है । (आरेख पृष्ठ 37 पर देखें ।)

यहाँ दो एक तथ्यों का स्पष्टीकरण आवश्यक है । किसी काव्य-कृति में संयोजित बिंब, वस्तुतः अभिव्यक्ति बिंब हैं क्योंकि वे बिंब स्वयं अपने में साध्य नहीं । वे काव्य-बिंब के उपांग रूप में होने के कारण मात्र साधन हैं। इन अभिव्यक्ति बिंबों की पूरी सार्थकता स्वयं अपना संसार बनाने में नहीं वरन् काव्य-बिंब के संसार को मूर्त रूप देने में है ।

यह तथ्य भी ध्यान में रहना चाहिए कि किसी कविता की विषय-वस्तु और काव्य-वस्तु दो भिन्न वस्तुएँ हैं । विषय-वस्तु, काव्य-वस्तु के कथ्य-पक्ष का सामान्य भाषा में सामान्य कथन है और काव्य-वस्तु काव्य-बिंब (कृति) के कथ्य-पक्ष का वह अंश है जो काव्य-भाषा के गर्भ से जन्म लेता है और जो काव्य-भाषा से अलग होकर अपना अस्तित्व पा ही नहीं सकता । कविता का विषय, कविता के बाहर जाकर भी लोक-जीवन में स्थित रह सकता है पर काव्य-वस्तु, कृति की अपनी संरचना के बाहर सिद्ध हो

ही नहीं सकती। लोक-जीवन में स्थित किसी एक विषय पर अनेक कविताएँ रची जा सकती हैं पर कृति में आबद्ध काव्य-वस्तु, रचना-सापेक्ष होने के कारण विशिष्ट होता है जिसकी न तो पूर्ण व्याख्या संभव है और न तो उसके पूर्ण प्रतिरूप अर्थ का पुनः सृजन ही।



उदाहरण के लिए 'अज्ञेय' की 'जैसे तुझे स्वीकार हो' और 'जयतु हे कण्टक चिरन्तन !' शीर्षक दो कविताओं को लें जो प्रथम 'तारसप्तक' में संकलित हैं। दोनों ही कविताओं का विषय एक है, दोनों छायावादी चेतना की अस्वीकृति एवं उसकी शैली के निषेध के लिए छायावाद की वस्तु व्यंजना एवं अभिव्यक्ति-पद्धति को प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं। वस्तुतः 'जयतु हे कण्टक चिरन्तन' नामक कविता, पहली कविता के अर्थ के निमित्त लिखी रचना है। 'जैसा तुझे स्वीकार हो' एक साहित्यिक कृति है और कवि के शब्दों में 'साधारण गद्य में उसकी व्याख्या ही हो सकती है, अर्थ नहीं, अतः मैं उसका अर्थ पद्य में करके भेज रहा हूँ" और यह पद्य दूसरी कविता है। पर क्या यह दूसरी कविता की अर्थपरक संपूर्ण संभावना और व्यंजकता समाहित है? एक होते हुए भी क्या दोनों कविताओं की काव्य-वस्तु दो नहीं?

काव्य-वस्तु अभिव्यक्ति-पद्धति में बँधे अमूर्त स्वर से स्पंदित रहता है जो हृत्कंपन की तरह कविता के जीवंत पक्ष का उद्घाटन करता रहता है। 'जैसे तुझे स्वीकार हो,' कविता, स्वयं काव्य के 'चिन्मय देवता' को संबोधित करती है। यह दिखाने के लिए कि छायावाद की कोमल अभिव्यंजना वस्तुतः अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियों

का अनबूझ, व्यर्थ और असंगत चित्रण है। 'जयतु हे कण्टक चिरन्तन'–शीर्षक कविता, छायावादी कोमल अभिव्यंजना की उस परिणति को अभिव्यंजित करती है जो समय के दौर में अपना सत्व खो बैठी है, जिसके सत्वपरक 'फूल झंझा के थपेड़ों से पिट चुके हैं,' काव्य-क्षेत्र में जो 'निष्प्राण रूखे शूल' के समान है यह कविता 'असुर दुर्दम, दैत्यकवि' को संबोधित है। इन दोनों कविताओं की काव्य-वस्तु के अंतर को काव्य-बिंब के हृत्कंपित करने वाले आभ्यंतर स्वर एवं टोन के संदर्भ में पहचाना जा सकता है जो अभिव्यक्ति के माध्यम से भाषा-बद्ध है। पहली संबोधित है 'चिन्मय देवता' को और कविता की पहली पंक्ति में ध्वनित है (छायावादी) चेतना की एक सहज निषेधात्मक स्वीकृति 'जैसे तुझे स्वीकार हो।' दूसरी कविता संबोधित है 'दैत्य कवि' को और जिसकी पहली पंक्ति में ध्वनित है (छायावादी) चेतना पर व्यंग्यात्मक उक्ति– 'जय सदा जय हो।'

यह तथ्य भी ध्यान देने का है कि विज्ञान का पाठक जब विज्ञान के सिद्धांत का साक्षात्कार करता है तब सर्वप्रथम वह 'सामान्य अमूर्त प्रकथन' (axiom) का सामना करता है और फिर निर्वचनात्मक पद्धति द्वारा विशिष्ट मूर्त प्रकथन तक पहुँचता है लेकिन साहित्य के पाठक को इसके ठीक उल्टे रास्ते को अपनाना पड़ता है। उसका पहला साक्षात्कार 'विशिष्ट मूर्त प्रकथन' के साथ होता है जिसके सहारे वह 'सामान्य अमूर्त प्रकथन' को पकड़ता है। इस प्रक्रिया में उसे अभिव्यक्ति-पक्ष की उन सभी रीतियों को एक साथ पार करना पड़ता है जिससे कवि को अभिव्यक्तिकरण प्रक्रिया के दौरान गुजरना पड़ता है। शैलीविज्ञान का प्रमुख लक्ष्य इसी अभिव्यक्तिकरण प्रक्रिया को कृति के संदर्भ में समझना-समझाना है।

————

3

शैलीविज्ञान--आलोचना का भाषावादी दृष्टिकोण : स्वरूप एवं प्रकृति

दूसरे दिन के व्याख्यान में यह संकेत दिया जा चुका है कि सामान्य भाषा का बोध-पक्ष जिस संकेतन एवं प्रतीकीकरण प्रक्रिया को लेकर चलता है उसकी प्रकृति व्यक्तिगत (विशिष्ट) न होकर जातिगत (सामान्य) होती है। ध्यान देने की बात है कि इन प्रतीकों की जातिगत प्रकृति का संबंध मूलतः इंद्रियगत अनुभव-संसार से संबद्ध होता है। इंद्रियगत अनुभव का यह संसार मनुष्य की चेतना और बाह्य जीवन के तथ्यों के घात-प्रतिघात के फलस्वरूप उद्भूत संस्कारों पर आधारित एवं निर्मित होता है। पर जैसा पहले यह संकेत दिया जा चुका है, विषयी की चेतना, मूलरूप में एक होते हुए भी विभिन्न अनुभव-रीतियों के आधार पर विभिन्न अनुभवगत संसार को जन्म देने में समर्थ हैं, और ये विभिन्न संसार भिन्न अभिव्यक्ति-पद्धतियों की माँग करती हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'सामान्य' को 'विशिष्ट' अथवा 'अमूर्त' को 'मूर्त' रूप में रूपांतरण की अभिव्यक्ति-प्रक्रिया, इंद्रिय-सम्मत, विज्ञान-सम्मत और कला-सम्मत संसारों की अपनी माँग के अनुसार तीन भिन्न प्रतीक-पद्धतियों का निर्माण करती हैं। वैज्ञानिक और कवि, दोनों के सामने अभिव्यक्ति की एक मूल समस्या यह भी है कि किस रीति से इंद्रिय-सम्मत अनुभव-संसार को व्यक्त करने वाली सामान्य भाषा के माध्यम से अपने विशिष्ट अनुभवगत संसार के अमूर्त एवं मूर्त पक्ष को व्यक्त किया जाए। एक अनुभव-संसार की अभिव्यक्ति-पद्धति में क्या गुणात्मक परिवर्तन किए जाएँ कि दूसरे अनुभव-संसार के अपने गुणों का उद्घाटन संभव हो सके। इस मूल समस्या से न तो वैज्ञानिक ही अपने को मुक्त कर सकता है और न साहित्यकार ही।

विद्वानों का एक वर्ग यह स्वीकार करके चलता है कि विज्ञान-सम्मत अनुभव-संसार को अभिव्यक्त करने वाली तर्कभाषा शुद्ध रूप में प्रतीकात्मक होती है। इसके विपरीत कला-सम्मत अनुभव-संसार को अभिव्यक्त करने वाली काव्य-भाषा, प्रतीकात्मक होने के साथ ही साथ बिंबपरक भी होती है। तर्कभाषा एवं काव्य-भाषा के इस मूलभूत अंतर का संबंध कुछ विद्वान् अभिव्यक्तिकरण के उस विभेद के साथ भी जोड़ना चाहते हैं जो 'सामान्यीकृत अमूर्त प्रकथन' के 'विशिष्ट मूर्त प्रकथन' में रूपांतरण

से संबद्ध हैं, अभिव्यक्ति की निर्वचनात्मक रीति पर आग्रह रखने के कारण विज्ञान जो प्रतीकों की पद्धति अपनाता है वह निश्चय ही उस प्रतीक-पद्धति से भिन्न होगी जिसे प्रस्तुतीकरण (presentation) की रीति को अपनाने वाली कविता स्वीकार करती है।

रूपांतरण प्रक्रिया के संदर्भ में प्रतीक-पद्धति पर विचार करने वाले विद्वानों की यह मान्यता है कि बिंबपरक भाषा मनुष्यों के निजी और जातिगत अनुभवों की तीव्र गत्यात्मक शक्ति एवं आंतरिक अनुभूतियों की सघनीभूत क्रियात्मक प्रक्रिया से परिचालित होती है। अनुभवों की गत्यात्मक शक्ति और अनुभूतियों की क्रियात्मक चेतना की मूल प्रकृति एवं अर्थवत्ता जीवन की गतिविधियों को परिचालित करते रहने के बावजूद भी सामान्य मनुष्यों की चाक्षुष-दृष्टि से छिपी रहती है। भाषा की बिंबपरक अभिव्यक्ति इन अमूर्त एवं अगोचर आदिम मूलवृत्तियों को मूर्तरूप देने में सक्षम सिद्ध होती हैं। काव्य-भाषा में दिखाई पड़ने वाली बिंब-निर्माण की इस प्रक्रिया को विद्वानों ने अन्य क्षेत्रों में पाई जाने वाली बिंब-प्रक्रिया के साथ जोड़कर देखना चाहा है। यथा— फ्रायड बिंब-निर्माण को 'स्वप्न चित्रों' के रूप में देखना चाहते हैं, युंग ने (1945), 'आर्कीटाइप' (archetype) को अचेतन स्तर पर जीवंत बनाने के संदर्भ में बिंब-प्रक्रिया को समझाने का प्रयास किया है, कुमारस्वामी ने (1942) कल्पनाप्रकथन मूर्तविधान (imaginative iconograph) के रूप बिंब को स्वीकार किया है, केसिरर (1925) बिंब-प्रक्रिया को 'मिथ' निर्माण की प्रक्रिया के साथ जोड़कर देखने के पक्ष में हैं।

'सामान्यीकृत अमूर्त प्रकथन' के 'विशिष्ट मूर्त प्रकथन' में रूपांतरण प्रक्रिया के संदर्भ में अभिव्यक्ति की बिंबपरक पद्धति को काव्य-समीक्षा का मूल आधार मानकर चलने वालों में कुमारस्वामी (Coomarswamy), केनेथ बर्क (Kenneth Burke), माड बोदलिन (Maud Bodlin), एडमण्ड विलसन (Edmund Wilson), लिआनेल ट्रिलिंग (Lionel Trilling), रिचर्ड चेज़ (Richard Chase), नार्थ्रप फ्राई (Northrop Frye) आदि विद्वान् हैं। इनको सैद्धांतिक एवं वैचारिक पृष्ठभूमि प्रदान करने वालों में जेम्स फ्रेज़र (James Frazer), जेन हैरिसन, एमिल दुरखिम (Emile Durkheim), लार्ड रागलान (Lord Raglan) आदि उन्नीसवीं सदी के दार्शनिक एवं नृतत्वशास्त्री और बीसवीं सदी के मनोविश्लेषण-सिद्धांत के दो प्रमुख आधारस्तंभ—फ्रायड और युंग हैं। बिंब-निर्माण को प्रतीकात्मक प्रक्रिया से जोड़कर अपने सिद्धांत की पुष्टि करने वालों में कैसिरर (E. H. Cassirer), सुसन लैंगर (Susanne K. Langer), एरिक फ्राम (Erich Fromm) आदि का नाम लिया जा सकता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (1967) के शब्दों में 'कलाकार के हृदय में जो मिथकीय सिसृक्षा उदित होती है वह अवचेतन चित्त की वेगवती शक्ति है। वह समष्टि चित्त की ऐसी अनुभूति है जो विविक्तपूर्ण भाषा के प्रादुर्भाव के पहले की है। इसे आर्कीटाइप कहिए, समष्टि चेतना कहिए, या यांत्रिका की भाषा में 'सर्वात्मिका

संवित्' कहिए, बात एक ही है।' द्विवेदी जी के अनुसार सामान्य भाषा भावमूर्ति को व्यक्त करने में समर्थ नहीं है अतः भाषा के सामान्य पक्ष के जो बाहर है उस अप्रस्तुत को कवि मिथक-तत्व से पूरित करता है।

द्विवेदी जी यह स्वीकार करके चलते हैं कि "शब्दों से मनुष्य के इंद्रियगत बिंबों का एक सामान्य अंश ही प्रकट हो पाता है। बाकी बहुत सी बातें छूट जाती हैं। इन छूटी हुई बातों को अभिव्यक्त करने के लिए कभी-कभी मनुष्य का मन व्याकुल हो उठता है। कैसे इनको प्रकट किया जाए? भाषा के अधिकाधिक प्रयोग होने से शब्द रूढ़ हो जाते हैं। और प्रायः जिन गुणों के नाम पर उनका नामकरण किया गया होता है वे भी भुला दिए जाते हैं। इस प्रकार गद्यात्मक भाषा मनुष्य की अधिकांश अनुभूतियों को छोड़ती जाती है और भाव की अभिव्यंजना में असमर्थ होती जाती है।" द्विवेदी जी के अनुसार भाषा की इसी असमर्थता को दूर करने के लिए कवि, मिथक-तत्व का उपयोग करता है क्योंकि अंतर्जगत के भावों को बहिर्जगत की भाषा में व्यक्त करने का एकमात्र साधन यह मिथक तत्व ही है जो **"ऊपर-ऊपर से देखने से यह झूठ है, परंतु गहराई पर देखने से यह सत्य है।"**

यहाँ ध्यान देने की बात है कि अंतर्जगत के भावों को जब हम बहिर्जगत की भाषा में व्यक्त करते हैं तो काव्य-वस्तु के संदर्भ में बहिर्जगत की उपस्थिति का एक सीमा तक हम निषेध भी करते जाते हैं। शब्दों द्वारा संकेतित बाह्य जगत के रूपांतरण के माध्यम द्वारा ही कविता की 'विषय-वस्तु अंततः काव्य-वस्तु का रूप ग्रहण करती है। पर जब अंतर्जगत के भाव को भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया जाए कि बिंब-विधान, बहिर्जगत का निषेध न कर अप्रस्तुत तक पहुँचने के बजाय स्वयं उससे प्रतिबद्ध होकर रह जाए तब वह (बिंब) काव्य का सही उत्पादन बनने की क्षमता खो देता है। इस स्थिति में पूरी रचना चित्र-काव्य बनकर रह जाएगी जिसे साहित्याचार्यों ने अधम-काव्य की संज्ञा दी है। रीतिकालीन कविताओं में पाई जाने वाली कई चित्र-छबियाँ इसी कोटि की हैं, यथा—

'आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस कै कै नेहबस सखी सबै ढिग जाति॥'
'छाले परिबे के डरन सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकति हियें गुलाब के झवा झवावति पाइ॥' **(बिहारी)**

द्विवेदी जी जब यह कहते हैं कि "'डाह' का मूल संस्कृत शब्द 'दाह' है अर्थात् जलन। लेकिन मन में की हुई जलन को किस शब्द के द्वारा प्रकट किया जाए। जलन या दाह स्पर्श-बिंब है। इसी स्पर्श-बिंब के माध्यम से मनुष्य अपनी मानसिक ईर्ष्या-भाव को अभिव्यक्त करना चाहता है। उसे दाह या जलन कहना अमूर्त अनुभूति को किसी-न-किसी प्रकार मूर्त-बिंबों में अनुवाद करना है। इसी प्रकार रूप को 'मधुर' कहना या सौंदर्य को 'लावण्य' कहना वस्तुतः एक अमूर्त अनुभूति को स्वादेंद्रिय द्वारा अनुभूत बिंब के माध्यम से गोचर कराने का प्रयास मात्र है।" तब बहिर्जगत

की वस्तुओं को आभ्यंतर प्रभाव-साम्य रूप में ग्रहण करने वाली शब्दों की लक्षणा-शक्ति को एक बार फिर इंद्रियगत संवेदनाओं से जोड़कर वे बहिर्जगत की वस्तु बना देने के पक्ष में दीखते हैं।

पर जैसा ऊपर संकेत दिया जा चुका है, इंद्रियगत संवेदनाओं के आधार पर निर्मित संसार और कलागत अनुभूतियों से संचालित संसार, दो भिन्न अनुभव-संसारों को जन्म देते हैं जो अपनी प्रकृति में कुछ विशिष्ट आंतरिक गुणों के आधार पर एक दूसरे से भिन्न रूप में सिद्ध रहते हैं। अनुभव-रीतियों (modes of experience) के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि एक की निर्माणकर्त्री इंद्रिगत संवेदनाएँ हैं और दूसरे की कलात्मक अनुभूतियाँ। इंद्रियगत संवेदनाओं के आधार पर निर्मित अनुभव-संसार का कलागत अनुभूतियों के आधार पर स्थित अनुभव-संसार में रूपांतरण की प्रक्रिया के रूप में काव्य-सृजन को देखना वस्तुतःकाव्य-क्षेत्र की अपनी प्रक्रिया को झुठलाना ही होगा। काव्य-संसार, अन्य किसी संसार का प्रतिरूप या परिवर्तित रूप नहीं होता वरन् अपने आंतरिक गुणों एवं अपनी प्रकृति के आधार पर स्वयं अपना संसार होता है। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि कैसिरर भाषा और मिथ दोनों के मूल में प्रतीकन प्रक्रिया के संवेग को स्वीकार करते हैं पर इन दोनों को 'साधारण ऐंद्रिय अनुभूतियों का तीव्र और सांद्रीभूत रूप (concentration and hightening of simple sensory experience) मानने के बावजूद भी वे इन्हें एक दूसरे के रूपांतरण के रूप में स्वीकार नहीं करते।' 'केसिरर' ने इस बात का जोरदार विरोध किया है कि भाषा, मिथकीय प्रक्रिया से उत्पन्न है। वे भाषा और मिथक तत्व को एक ही मूल से निकली हुई दो अलग-अलग शाखाएँ मानते हैं।" सच तो यह है कि भाषा और मिथकत्व अथवा मिथकतत्व और काव्य-तत्व के अंतर को ठीक से समझने के लिए जितना इनके मूल में कार्य करने वाली शक्तियों की एकरूपता का पता लगाना है उससे कहीं अधिक जानना आवश्यक है कि एक ही मूल (प्रतीकन प्रक्रिया) से उत्पन्न होकर भी किन कारणों के आधार पर ये (शक्तियाँ) भिन्न रूप धारण कर भिन्न शक्तिरूप हो जाती हैं।

यह तथ्य विशेष महत्वपूर्ण है कि बिंब का इंद्रियपरक मूर्त रूप अगर एक ओर अमूर्त कथ्य को दृष्टिपरक बनाता है तब दूसरी ओर बाह्य संसार से सीधे जुड़े रहने के कारण इंद्रियजन्य संवेदनाओं से भी अटूट संबंध बनाए रखता है। बिंब द्वारा उद्भूत चाक्षुष अथवा अन्य इंद्रिय-जन्य संवेदनाएँ विषय-वस्तु को भले ही अतिरंजित करने में समर्थ हों काव्य-वस्तु को उसके सही संदर्भ के साथ उभरने और समझने में अवरोध ही डालते हैं। कविता, 'बाह्य तथ्य' को नहीं वरन् 'संभावित यथार्थ' को लेकर चलती है, उसके अपने उपादान बाह्य जीवन के प्रतिनिधि नहीं अपितु काव्यात्मक जीवन के उपांग होते हैं। 'बिंब' कविता का मूल उपांग नहीं बन सकता क्योंकि वह मूलरूप में ऐंद्रिय अनुभूतियों को अपना साध्य बनाता है, वह बाह्य संसार से

अपने को असंपृक्त करने की क्षमता ही नहीं रखता। कविता में जिस बिंब की चर्चा की जाती है उसको 'भाव-बिंब' के रूप में स्वीकार करना अधिक उचित है। वस्तु-बिंब के स्थान पर भाव-बिंब बनाने की क्षमता 'शब्दों' में निहित होती है न कि उसमें जिसे विद्वान् मिथक-तत्व, आर्कीटाइपल इमेज (आदिम बिंब), स्वप्न चित्र अथवा कभी-कभी भ्रमवश 'काव्य-बिंब' कहते हैं।

रूसी विद्वान् झिरमुन्स्की (1928) के अनुसार "कविता का उपादान न तो बिंब है और न भावनाएँ। वह मात्र शब्द होता है क्योंकि कविता प्रकृति-रूप में शाब्दिक कला है।" संभवतः इसी मान्यता की पुष्टि करते हुए हिंदी के कवि-आलोचक 'अज्ञेय' ने 'तारसप्तक' के द्वितीय संस्करण में 'पुनश्च' के अंतर्गत यह लिखा— 'काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अंत में भी यही बात बच जाती है कि काव्य-शब्द है।' जब कवि काव्य-कृति की संरचना करता है तब न तो उसके सामने श्रोता रहता है और न स्वयं कवि का अपना व्यक्ति-जीवन! रहते हैं तो केवल शब्द जो कवि के काव्य-व्यक्तित्व को तराशते चले जाते हैं। अमूर्त काव्य-चेतना को शब्दों के साथ रूपायित करने के क्षणों में कवि का काव्य-व्यक्तित्व उसके अपने व्यक्ति-जीवन से असंपृक्त रहता है। संभवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखकर कवि इलियट ने कविता को आत्माभिव्यक्ति न मानकर उसे आत्मा से पलायन के रूप में स्वीकार किया है। और संभवतः यही कारण है कि कवि साही ने काव्य-कृति को अकसर अपनी मृत्यु के भीतर से अनायास उद्भुत होते पाया है। इन्हीं शब्दों के साथ काव्य-कृति अपना जन्म पाती है और इसी के न रहने पर कृति 'न [जाने किस खोखल में समा' जाती है।

"सचमुच जब मैं बातें कर रहा था
तब तुम भी नहीं थे–
सिर्फ वे शब्द थे
जो मुझे तराशते चले जा रहे थे
और तब मैं तुम्हें नहीं, खुद को भी नहीं
उस तीसरे को देख रहा था
जो अकसर मेरी मृत्यु के भीतर से
अनायास उद्भूत होने लगता है।
और जब तक मैं बोलता रहा
कलाकृति की तरह
वह निर्मित होता रहा
और जब मैं चुप हो गया
बाजीगर की गेंदों की तरह

वह लुञ्ज-पुञ्ज
न जाने किस खोखल में समा गया ।

('एकालाप'––विजयदेवनारायण साही)

(इस कविता में 'मैं' 'तुम' और 'तीसरा' क्रमशः कवि का व्यक्तिगत जीवन, श्रोता और काव्य-कृति को व्यक्त करता है और 'बोलना' उस सृजनात्मक प्रक्रिया की ओर संकेत करता है जिसके मूल में शब्द की सार्थकता सिद्ध रहती है ।)

कवि शब्दों को इनकार कर काव्य-कृति का सृजन कर ही नहीं सकता। उसके लिए जो महत्वपूर्ण प्रश्न है वह यही कि सामान्य भाषा के प्रतीकवत शब्दों का प्रयोग वह किस रीति से करे कि वे शब्द काव्य-जगत के उपादान बन जाएँ । वस्तुतः सामान्य भाषा में वह गुणात्मक परिवर्तन इस प्रकार लाता है कि रूपांतरित भाषा, 'सामान्य भाषा' का मात्र आभास देती हुई छंदों के आंतरिक लय की तरह उमड़-घुमड़ कर निःशब्द (प्रतीकरहित) भाव से उसकी काव्य-चेतना को ध्वनित करने में सक्षम बन जाती है । यह भाषा, चीजों को उसके 'नाम' के आधार पर नहीं, वरन् चीजों को उसकी संपूर्णता में ग्रहण कर एक ऐसे समन्वित अर्थ को प्रतिष्ठित करती है जो सामान्य भाषा की सामान्य प्रतीकन पद्धति द्वारा संभव नहीं । पर इस माया के मूल में भी शब्द की ही सत्ता रहती है ।

"शब्द, अब भी चाहता हूँ
पर वह कि जो जाए वहाँ वहाँ होता हुआ
तुम तक पहुँचे
चीजों के आरपार दो अर्थ मिलाकर सिर्फ एक
स्वच्छन्द अर्थ दे
मुझे दे । देता रहे जैसे छन्द केवल छन्द
घुमड़घुमड़ कर भाषा का भास देता हुआ
मुझको उठाकर निःशब्द दे देता हुआ ।

('नया शब्द'––रघुवीर सहाय)

काव्य-भाषा को 'बिंब' के 'होने' और 'न होने' की स्थिति से जोड़कर देखने वाले विद्वान् यह भूल जाते हैं कि बिंब, काव्य भाषा का एक उपादान मात्र है और कविता में बिंब हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता । बिंब की अनुपस्थिति में भी सुंदर कविता का निर्माण संभव है । उदाहरण के लिए रूसी भाषा के महान् कवि पुश्किन की नीचे दी गई प्रसिद्ध कविता को ही लें जो बिंब के अभाव में भी काव्य-भाषा के अपने आंतरिक गुणों से युक्त है ।

मैंने चाहा था तुम्हें तुमसे मुहब्बत की थी
क्या खबर आज भी हो दिल में चिनगारी
खैर अब आँच में क्यों उसकी जलाऊँ तुमको

जी नहीं मानता कुछ ठेस लगाऊँ तुम को
थी मुहब्बत में न गिले की न सिले की परवाह
बेज़ुबानी से कभी रश्क से दिल टुकड़े था
यूँ नज़ाकत से लगन से तुम्हें चाहा मैंने
चाहने वाला कोई ऐसा खुदा और भी दे ।

अनूदित होने के कारण इसमें भाषा का वह सौष्ठव और वैसी भंगिमा भले ही न हो जैसी मूल कविता में है पर बिंब-विहीन काव्य-भाषा की सक्षमता को यह अनुवाद भी प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करता है । भावानुवाद उर्दू के प्रसिद्ध कवि-आलोचक ज़ो अन्सारी ने रूसी की मूल कविता के आधार पर किया है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रस्तुतीकरण की अभिव्यक्ति-प्रणाली को कविता अपनाती है उसकी मूल इकाई के रूप में बिंब नहीं अपितु शब्द होता है । कविता में प्रयुक्त बिंब, वस्तु-चित्र न देकर भाव-चित्र उपस्थित करता है जिसकी प्रकृति आपाततः शब्दों द्वारा संप्रेषित भाव-चित्र के ही समान होती है । काव्य-बिंब भाषिक प्रक्रिया से उत्पन्न विशिष्ट शब्द-समूह रूप की इकाई के रूप में स्थित रहते हैं अतः जो बिंब, भाषा की इस विशिष्ट इकाई रूप के समान सिद्ध नहीं होते, उन्हें 'स्वप्नचित्र', 'आर्कीटाइप', 'मिथ' अथवा अन्य कुछ भी नाम क्यों न दे दिया जाए पर 'काव्य-बिंब' कहना तर्क-संगत नहीं जान पड़ता ।

ऊपर की विवेचना से यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक होगा कि कविता में बिंब का कोई महत्व ही नहीं होता अथवा बिंब योजना, काव्येतर प्रक्रिया का परिणाम होती है । इसमें संदेह नहीं कि 'बिंब-विधान का संबंध जितना काव्य की विषय-वस्तु से होता है उतना ही उसके रूप से भी । विषय को वह मूर्त और ग्राह्य बनाता है, रूप को संक्षिप्त और 'दीप्त' (केदारनाथसिंह : 195) । यहाँ बल इस तथ्य पर दिया जा रहा है कि विषय को मूर्त और रूप को दीप्त करने वाली बिंब-शक्ति का स्रोत, शब्दों की अपनी संयोजना में निहित होता है ।

बिंब की परिभाषा और विश्लेषण दो दृष्टियों से करना संभव है । ब्रूक-रोज़ (Chr. Brook-Rose) ने बिंब संबंधी आलोचना को दो मुख्य भागों में विभाजित किया है :

(1) भाव-वादी आलोचना : यह आलोचना-पद्धति यह मानकर चलती है कि बिंब-विश्लेषण का क्षेत्र प्रधानतः भावक्षेत्र होने के कारण भाषा और शब्दों के विश्लेषण के उपरांत प्रारंभ होता है । इस दृष्टि के अनुसार शब्द की स्थिति संरचना की इकाई के रूप में उसी प्रकार की होती है जैसे किसी 'प्रासाद' के रूप-निर्माण में 'ईंट' की होती है अर्थात् बिंब-रूपी प्रासाद के लिए शब्द, ईंट के समान होते हैं । पर बिंब को सार्थकता प्रदान करने वाली काव्यार्थ-वर्द्धक शक्ति उस सृजनात्मक प्रक्रिया का परिणाम होती है जो पूरी संरचना के कथ्य के भीतर से उद्भूत होती है

और जो शब्दों के सामान्य अर्थ के साथ-साथ एक अतिरिक्त अथ को जन्म देती है। बिंब का मूल संबंध इस अतिरिक्त अर्थ से संबद्ध होने के कारण इस दृष्टि के समर्थकों के अनुसार, बिंबों की सार्थकता की चर्चा शब्द-शक्तियों की अपनी-क्षमता के विवेचन के बाहर की वस्तु ठहरती है। (विनोग्रादोव : 1960)

(2) भाषावादी आलोचना : इस दृष्टिकोण के अनुसार बिंब का निर्माण भाषा की अपनी विशिष्ट संरचना का परिणाम होता है और काव्य-बिंब से उद्भूत 'अतिरिक्त' अर्थ वस्तुतः शब्द-रूप और शब्दार्थ की आंतरिक टकराहट का ही परिणाम होता है। इस टकराहट को विम्सैट (Wimsatt) काव्य-भाषा की लाक्षणिक शक्ति के आधार पर समझाते हैं, एम्पसन (Empson) संदिग्धार्थता एवं अनेकार्थता (ambiguity), टेट (Tate) शब्दों के अंतर्मुखी एवं बहिर्मुखी अर्थों के तनाव (tension) और क्लेनथ ब्रूक्स (Claeneth Brooks), विडंबना एवं व्यंग्य (irony) के आधार पर स्पष्ट करते हैं।

बिंब की भाषावादी परिभाषा देते हुए कहा जा सकता है कि बिंब दो या दो से अधिक काव्य का वह संश्लिष्ट रूप है जो अर्थ के धरातल पर विरोधी होने के उपरांत भी वाक्य-संरचना (syntax) के धरातल पर आपस में संबद्ध होता है।

तर्कपरक और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के अंतर का दूसरा धरातल सामान्यीकृत अमूर्त प्रकथन में प्रयुक्त होने वाले प्रतीकों की प्रकृति-भिन्नता पर आधारित है। इस मान्यता को लेकर चलने वाले विद्वानों के अनुसार कविता और कुछ नहीं अपितु एक प्रकार की विशिष्ट भाषा ही है। अतः कविता को समझने का एकमात्र माध्यम उसमें प्रयुक्त होने वाली भाषा की प्रतीक-पद्धति ही हो सकती है। काव्य-भाषा की इस प्रतीक-पद्धति की अपनी विशिष्टता का उद्घाटन तर्कभाषा और उसमें प्रयुक्त होने वाली प्रतीक-पद्धति के विरोध में ही संभव है। तर्कभाषा को कभी बोलचाल की भाषा और कभी वैज्ञानिक पाठों की भाषा की प्रतीक-पद्धति के रूप में स्वीकार कर काव्य भाषा की प्रतीक-पद्धति का अवमूल्यन ठीक उसके विरोध में लाकर किया गया है। इस दृष्टि को स्वीकार कर कविता की व्याख्या एवं मूल्यांकन करने वालों में रिचर्ड्स (I. A. Richards), विनोकुर एम्पसन (W. Empson), रैन्सम (I. C. Ransom), विवस (Elseo Vivas), क्रेयगर (M. Krilger), व्हीलरायट (P. Wheelwright), ब्लैकमूर (R. P. Blackmur), एलन टेट (Allen Tate), ब्रूक्स (C. Brooks), वारेन (R. P. Warren), बेटसन (F. W. Bateson), विम्सैट (W. K. Wimsatt), विनोग्रादोव आदि विद्वान् प्रमुख हैं।

तर्क-भाषा और काव्य-भाषा की प्रतीक-पद्धति के अंतर को स्पष्ट करते हुए प्रायः यह कहा गया कि कवि की अपनी दृष्टि और अनुभूति की प्रेरणा से अनुप्राणित होने के कारण काव्य-भाषा 'भावात्मक' (emotive) होती है जबकि विज्ञान की तटस्थ दृष्टि और सिद्धांत-विशेष से बाधित होने के कारण तर्कभाषा की प्रकृति 'संकेतात्मक'

(referential) है (Richards : 1925 : 261-71); काव्य-भाषा की प्रतीक-पद्धति प्रत्यय (concept) और अभिव्यक्ति (expression) के संबंध को लचीला बनाने के प्रयत्न में अर्थ को विकल्प के रूप में ग्रहण करती है जबकि तर्कभाषा में इस संबंध को रूढ़ और निश्चित बनाने के कारण अर्थ में विकल्प की संभावना ही नहीं रहती; विकल्प की स्थिति में रहने के कारण काव्य-भाषा में संदिग्धार्थता और अनेकार्थता रहती है जो कविता में काव्यात्मकता को जन्म देती है जबकि तर्कभाषा निर्विकल्प होने के कारण एकार्थी प्रकथन के समान होती है (Empson : 1947); काव्य-भाषा भी अपने भीतर तर्कप्रधान, बौद्धिक और गद्यात्मक अर्थ को अपने भीतर अंतर्निहित किए रहती है पर मूलतः वह काव्य-भाषा इसलिए है कि अर्थ और ध्वनि-संयोजन के अंतर्विरोध एवं उनके बीच के तनाव के फलस्वरूप उसमें अबौद्धिक, अनिर्णीत एवं अतवर्य अर्थ का भी समावेश रहता है (Ransom : 1941), काव्य-भाषा वस्तुतः सामान्य भाषा की संकेतार्थ प्रकृति के बाध और बाह्य संकेत के निषेध का परिणाम है अतः उसकी अर्थ-प्रकृति अंतर्मुखी (discourse turned inward) और आंतरिक प्रक्रिया संकेतार्थ से मुक्ति (referential deployment) को लेकर चलती है (Allen Tate : 1959); काव्य-प्रतीक की प्रकृति संश्लेषणात्मक है और विरोधी तत्वों की घनीभूत इकाई होने के फलस्वरूप वह अपारदर्शी (opaque) होती है जबकि तर्क-भाषा की प्रतीक-पद्धति विश्लेषणात्मक होती है और व्याकरण के सुनिश्चित नियमों में बंधे होने के कारण व्यवहार में वह पारदर्शी (transparent) रहती है (Bateson : 1950); विज्ञान जो कुछ कहता है वह 'भाषा के माध्यम' से कहता है पर कविता जो कुछ कहती है वह भाषा को माध्यम बनाने के अतिरिक्त भाषा में कहती है (Elseo Vivas : 1955, 121) जिसे क्रेयगर के शब्दों में कह सकते हैं कि तर्क-भाषा, 'खिड़की के पारदर्शी शीशे' के समतुल्य होती है और काव्य-भाषा अपने कार्य-फलन में 'खिड़की के पारदर्शी शीशा' और 'दर्पण के सेट' दोनों ही के समरूप होती है (Krieger : 1964); काव्य-प्रतीक का अर्थ तर्क-प्रतीक के समान सिद्धांत परिभाषित न होकर संदर्भ-संवलित होता है (Cleanth Brooks : 1947, 8-9)।

तर्क भाषा और काव्य-भाषा के अंतर के संदर्भ में ऊपर दी गयी प्रतीक-पद्धति की विवेचना को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—एक, जो प्रतीक-पद्धति के बाह्य-पक्ष (extrinsic) को लेकर विवेचना प्रस्तुत करती है और दूसरी जो उसके आंतसिक पक्ष (intrinsic) तक ही अपने विश्लेषण को सीमित रखती है। बाह्य-पक्ष के परिप्रेक्ष्य में काव्य-भाषा की विवेचनात्मक पद्धति मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, कवि-जीवन आदि विभिन्न साहित्येतर क्षेत्रों का अवलंबन लेकर काव्य-भाषा को तर्क-भाषा से अलग करने के पक्ष में है। इस श्रेणी के आलोचकों में रिचर्ड्स और विनोकुर के सिद्धांत सर्वाधिक प्रभावशाली एवं बहुचर्चित रहे हैं।

रिचर्ड्स के अनुसार प्रकथन की दो स्पष्ट प्रतीक-पद्धतियाँ हैं—एक, जिसका

संबंध भाषा के संकेतार्थ (reference) पक्ष के साथ रहने के कारण अर्थ की सत्यता अथवा असत्यता का बोध कराता है और दूसरा, जो उन अनुभवों एवं कवि-दृष्टिकोण को व्यक्त करता है जिसे एक विशेष संदर्भ में एक विशेष ढंग से भाषा उद्बुद्ध करती है। पहला, भाषा का वैज्ञानिक अथवा तर्क-सिद्ध रूप है और दूसरा, भाषा का भावात्मक (emotive) अर्थात् काव्य-सिद्ध रूप (रिचर्ड्स, 1925 : 67-8) भाषा का भावात्मक रूप कवि की अपनी अनुभूति, भावना, अभिप्राय और दृष्टिकोण का वाहक होता है जिसको कथन की सत्यता-असत्यता के मापदंड द्वारा नापा नहीं जा सकता।

रिचर्ड्स की आलोचना पद्धति कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। उन्होंने एक ओर अपने साहित्यिक सिद्धांत को मनोविज्ञान की चिंतन-प्रणाली से जोड़कर उसे वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया है और दूसरी ओर कविता को वस्तुनिष्ठ सिद्ध करते हुए पूर्ववर्ती आलोचना सिद्धांत की भाववादी एवं सौंदर्यवादी मान्यताओं का खंडन भी किया है। भाषा के कार्यफलन के आधार पर भावात्मक (emotive) एवं संकेतात्मक (referential) प्रतीक-पद्धतियों का विभाजन वस्तुतः उनके साहित्यिक सिद्धांत की अपनी माँग के परिणामस्वरूप है। रिचर्ड्स के अनुसार यह सही है कि कविता, विज्ञान की भाँति 'सत्यता' को आँका नहीं करती लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि कविता निरर्थक भावों की सार्थक अभिव्यक्ति है, उनकी दृष्टि में कविता, तीव्र मनोभावों (impulses) की एक ओर अभिव्यक्ति है और दूसरी ओर इन तीव्र मनोभावों की व्यवस्थापक (organizer) भी। महान् कवि में स्वभावतः तीव्र मनोभावों का सघन रूप मिलता है। कविता का इन मनोभावों के साथ संबंध दो स्तरों पर होता है—(1) सृजनात्मक प्रक्रिया के स्तर पर जो कवि-सापेक्ष है और (2) अनुभावन प्रक्रिया के स्तर पर जो पाठक-सापेक्ष है। मनोभावों के इन दोनों स्तरों पर पायी जाने वाली संघटना (structures) एक दूसरे से संबद्ध एवं संसक्त होती है लेकिन कवि और पाठक के बीच पाये जाने वाले मनोभावों की संघटना में संबंध भी इसलिए संभव है कि इनके बीच प्रभाव-संचार के लिए कविता का ठोस रूप स्थित है और अनुभव का काव्यभाषा के आधार पर साधारणीकृत होना संभव है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि रिचर्ड्स कवि और पाठक के मनोभावों की संघटना को संसक्त मानने के बावजूद भी कविता के संदर्भ में उसे एकरूप अथवा समरूप नहीं स्वीकार करते। इन दोनों मनोभावों की अपनी संघटना सिद्धांत रूप में मान्य है पर उनके बीच न पायी जाने वाली समरूपता ही वह कारण है कि कविता में हम सत्य का 'वस्तुरूप' नहीं पाते। इसके विपरीत वैज्ञानिक प्रकथन, वक्ता और श्रोता के बीच स्थित अनुभव संसार की एकरूपता को लक्ष्य बनाता है, वह बौद्धिक चेतना का निर्माण ही इस रीति से करता है कि वक्ता और श्रोता का मानस, चेतना के एकरूप धरातल का निर्माण कर सके जिसे रिचर्ड्स 'सत्य' नाम से बोधित करते हैं। एकरूप होने के कारण चेतना के इस धरातल (सत्य) को मापना, दुहराना और

प्रामाणिक सिद्ध करना संभव है। कविता का 'सत्य' नहीं हुआ करता। उसका मात्र अर्थ होता है जो मनोभावों के दो संघटनात्मक संदर्भों (structural contexts) (कवि और पाठक) के आंतरिक संघर्षों का परिणाम होता है। अतः भाषा के भावपरक (emotive) कार्यफलन का सीधा संबंध तीव्र मनोभावों के व्यवस्थापन से है।

रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित संकेतार्थ और भावार्थ संदर्भों के आधार पर भाषा की तर्कपरक और काव्यपरक प्रतीक-पद्धति की आलोचना करने वालों में रैन्सम, ब्लैकमूर, टेट, ब्रूक्स और एम्पसन प्रमुख हैं। इनके अनुसार रिचर्ड्स की आलोचना-पद्धति 'अभिप्रेत' (intentional) और अनुभाव (affective) हेत्वाभास (fallacy) पर आधारित है क्योंकि कविता के सही विश्लेषण के लिए यह आवश्यक नहीं कि कवि, क्या कहना चाहता है वरन् आवश्यक तो यह है कि हम जानें कि कविता स्वयं में क्या कहती है।

ध्यान देने की बात है कि पहले के कवि-आलोचक भी अपनी रचनाओं के मूल में भाषा की सार्थक सत्ता को स्वीकार करते रहे हैं। पर उनके लिए भाषा मात्र उपकरण थी और वह भी कविता या काव्य-भाषा के कार्यफलन का नहीं अपितु कविता के किसी विशेष पक्ष का विशेष साधन-रूप। उदाहरण के लिए 'सिडनी' के अनुसार कवि भाषा का उपयोग इसलिए करता है कि वह वस्तु-पक्ष को हृदयग्राही बना सके, सामान्य जीवन के वे अंश जो बिना शंका के ग्रहण नहीं हो सकते उसे संशय हीन ढंग से काव्यपरक भाषा के सहारे संप्रेषित किया जा सके। 'ड्रायडन' के अनुसार भाषा का उपयोग उस तत्व को 'जीवंत' बनाने में है जिसे हमारे ज्ञान और पर्यवेक्षण-शक्ति ने 'सत्य' के रूप में स्वीकार किया है। 'कालेरिज' के लिए भाषा का महत्व कवि की कल्पना-शक्ति के लक्ष्य की पूर्ति का साधन रहा है और 'शेली' के मतानुसार भाषा कवि की रचनात्मक कल्पना के एक महत्वपूर्ण सहयोगी के रूप में ही सिद्ध रहती है।

लेकिन आज का कवि भाषा को कविता के माध्यम मात्र के रूप में ही स्वीकार नहीं करता। वह इससे आगे बढ़कर यह भी कहता है कि 'कविता, भाषा की ही एक विधा है'। वह कविता को भाषा की एक शैली-विशेष के रूप में स्वीकार करता है और शैली को 'नार्म' (norm) से अलग हटी हुई भाषा की स्थिति-विशेष मानता है वह आज कविता में प्रयुक्त शब्दों के इर्दगिर्द चक्कर लगाकर यह सुनना चाहता है कि स्वयं में शब्द क्या बोलते हैं अतः अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि 'काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अंत में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है।' (अज्ञेय) आलोचक भी यह स्वीकार करने लगे हैं कि कविता, भाषा का ही एक विशेष रूप है (तोपोरोव 1962 : 264), विशेष रीति से व्यवस्थित भाषा की शैली-विशेष है (रोमन याकोब्सन 1960 : 264)।

काव्य-भाषा की प्रतीक-पद्धति के आंतरिक पक्ष को अपनी विवेचना की विषय-

वस्तु बनाने वाले विद्वान् यह मानकर चलते हैं कि कविता, स्वनिष्ठ (autonomous) है और उसकी सत्ता, स्वायत्त होती है। कविता को दो आधारों पर स्वनिष्ठ कहा जा सकता है। पहले आधार के अनुसार 'कविता' अपने में पूर्ण होती है। कोई भी साहित्यिक कृति अपनी सत्ता धारण करने के उपरांत अपना निजी व्यक्तित्व ग्रहण कर लेती है अर्थात् अपने जन्म के पश्चात् कृति को अपनी जीवन सत्ता के लिए बाह्य तथ्यों का मुखापेक्षी नहीं होना पड़ता। कविता की स्वायत्त स्थिति इस तथ्य में निहित होती है कि उसके अनुभावन के लिए काव्य-संबंधी जिस संदर्भ की अपेक्षा रहती है उसके सभी संकेत स्वयं कविता में उपलब्ध रहते हैं। कविता का कथ्य स्वयं कविता के दायरे में बँधा होता है। उस दायरे से बाहर जा वस्तु-चयन कर न तो श्रोता के लिए कविता को दूषित करना अभीप्सित है और न अतिरिक्त वक्तव्य देकर काव्यानुभूति को विकृत करना ही कवि के लिए वांछित है। 'अज्ञेय' के शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि 'कविता ही कवि का परम वक्तव्य है।' अतः 'यदि कविता के स्पष्टीकरण के लिए स्वयं उसके रचयिता को गद्य का आश्रय लेकर कुछ कहना पड़े तो साधारणतः इसे उसकी पराजय ही समझना चाहिए।'

कविता को 'स्वनिष्ठ' कहने का दूसरा अर्थ यह है कि कविता को न तो उस अभिप्राय के आधार पर जाँचा-परखा जा सकता है जिसे लेकर कवि अपनी कृति की रचना करता है और न पाठकों पर पड़े प्रभाव के संदर्भ में ही उसकी उचित व्याख्या की जा सकती है। होता यह है कि रचना को अपने 'होने' की स्थिति में पहुँचने के पहले तक जिस अभिप्राय को लेकर रचनाकार आगे बढ़ता है, सृजनात्मक प्रक्रिया से गुजरने के बाद उसकी रूप-प्रकृति ही बदल जाती है और कभी-कभी तो उसमें इस सीमा तक गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है कि अभिप्राय का अंतिम प्रतिफलित रूप काव्य में अभिव्यक्त होने के पूर्व-रूप के ठीक विरोध में आ खड़ा होता है।

जिस संवेदनात्मक उद्देश्य को लेकर कवि, काव्य-सृजन करने चलता है उसकी प्रकृति से स्वयं कवि भी प्रारंभिक अवस्था में परिचित नहीं होता। यह संवेदनात्मक उद्देश्य रूपी 'अनागत' कवि के चेतन मन में अपने होने का मात्र आभास और संकेत देता रहता है, वह उसके मानस-दर्पण में बिजली की चपलता के साथ अपने स्वरूप का प्रतिबिंब छोड़ता हुआ उसकी आँखों के सामने से ओझल हो जाता है। तड़ित-वेग से कौंधकर अदृश्य हो जाने के कारण वह उसके स्वरूप और उसकी प्रकृति से परिचित नहीं हो पाता और कवि को अनुभूति के धरातल पर यह लगता है मानो अनागत उसके अचेतन मन की अतल गहराई में डूबकर वहीं से अपनी अभिव्यक्ति के लिए 'चीख-चीख' कर उसके कवि व्यक्तित्व को पुकार रहा है - **फूल जैसे अँधेरे में दूर से ही चीखता हो। इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है** (केदारनाथसिंह)। कवि के लिए कविता का संवेदनात्मक उद्देश्य उस अज्ञात व्यक्ति के समान है जो उसकी —**जिंदगी के ··· । कमरे में अँधेरे । लगाता है चक्कर । आवाज पैरों की**

देती है सुनाई। बार-बार……बार, बार ।। पर वह अज्ञात व्यक्ति है कि ।। भील-पार आती हुई पास से। गहन रहस्यमय अंधकार ध्वनि सा ।। अस्तित्व जनाता। है पर बावजूद सभी कोशिशों के वह चेतना की दृष्टि से बँध नहीं पाता, सुनाई जो देता, पर नहीं देता दिखाई,(मुक्तिबोध)।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो संवेदनात्मक उद्देश्य स्वयं कवि की चेतन-आँखों की पकड़ के बाहर होता है जो स्वयं उसके लिए एक अनबूझ पुकार सदृश है उसको जानने के लिए कवि भी उतना ही असमर्थ या समर्थ माना जाएगा जितना उस कविता का कोई अन्य पाठक। सच तो यह है कि इस संवेदनात्मक अनुभूति से परिचित होने के लिए ही कवि, कविता की रचना करता है—

'कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में
उमग कर,
जन्म लेना चाहता हूँ फिर से,
कि व्यक्तित्वान्तरित होकर,
नए सिरे से समझना और जीना
चाहता हूँ, सच'

(मुक्तिबोध—'चकमक की चिनगारी')

कवि व्यक्तित्व और कविता के संबंधों को लेकर यह संकेत दे देना आवश्यक है कि कवि, कविता का रचयिता है उसका नियामक नहीं, वह उसका जनक है पिता-धाता नहीं। दूसरी बात यह भी है कि कविता एक बार जब अपने अस्तित्व में आती है तब उसके बाद वह कवि से स्वतंत्र हो जाती है। कवि-नियंत्रण से मुक्त हो जाने के बाद ही वह 'कालयात्री' बनती है। 'कालयात्री' बन कर अपने भीतर समाविष्ट कथ्य एवं मूल्यों का वह स्वयं निर्देशन एवं निरूपण करती है। कविता में समाहित संवेदनात्मक कथ्य अथवा तत्संबंधी सांस्कृतिक मूल्यों के परिवर्तन एवं परिवर्द्धन करने की क्षमता स्वयं उसके रचनाकार में भीं नहीं होती। कविता पर अपना अलग से वक्तव्य देकर न तो कवि उसकी प्रकृति को बदल सकता है और न उसकी भिन्न व्याख्या कर आलोचक ही उसे परिवर्तित कर सकता है। बदलने में अगर कवि अथवा आलोचक समर्थ है तो केवल कविता के प्रति पाठकों की भाव-दृष्टि को। कालजयी कविता अपनी मूल प्रकृति एवं आंतरिक संरचना में 'एक' होती है। बदलती है तो कविता और पाठक के बीच की संबंध-प्रकृति जिसको लक्ष्य में रखकर विभिन्न युगों में विभिन्न साहित्येतर आलोचक उक्त कविता संबंधी अपनी समीक्षा प्रस्तुत करते हैं।

'नहीं होती, कहीं भी खत्म कविता नहीं होती
कि वह आवेग-त्वरित काल यात्री है
मैं उसका नहीं कर्ता
पिता-धाता

कि वह कभी दुहिता नहीं होती
परम स्वाधीन है वह विश्व-शास्त्री है ।'

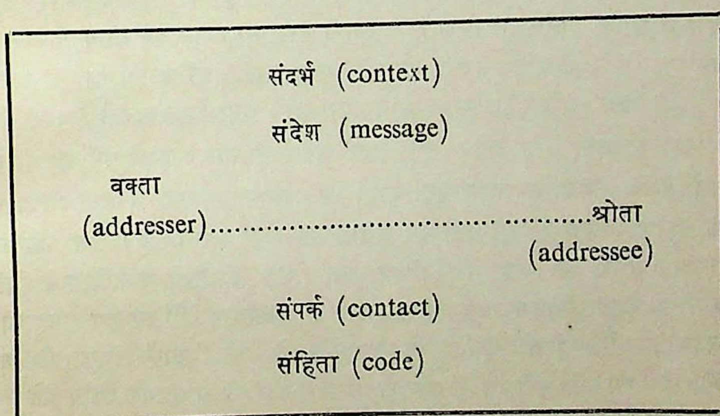
(मुक्तिबोध—'चकमक की चिनगारी')

कविताऔर भाषा के अंतस्संबंधों को दो भिन्न पर आपस में संबद्ध दृष्टिकोणों के आधार पर कविता की आंतरिक (intrinsic) समीक्षा करने वाले विद्वानों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है । पहले वर्ग का ध्यान 'कविता' पर केंद्रित होता है । कविता की अपनी माँग के संदर्भ में वे काव्यभाषा की विवेचना करते हैं और इस दृष्टि से उनकी विवेचना में काव्य-भाषा के गुण कविता के संदर्भ में मात्र उदाहरण एवं प्रमाण रूप (illustro-explicative) में उद्धृत मिलते हैं । दूसरा वर्ग कविता और काव्यात्मकता में स्पष्ट भेद कर अपनी आलोचना प्रस्तुत करना चाहता है । उसके अनुसार कविता वस्तुरूप होती है और उसमें निहित काव्यात्मकता, काव्य-संबंधी लक्षण (feature) रूप होते हैं । लक्षण-रूप में होने के कारण 'काव्यात्मकता' केवल कविता में ही नहीं वरन् अन्य साहित्य रूपों में भी मिल सकती है । वह, कविता, कहानी, उपन्यास और यहाँ तक कि विज्ञान संबंधी लेखों में भी पायी जा सकती है । जो वर्ग कविता और काव्यात्मकता में स्पष्ट अंतर मानकर चलता है वह 'काव्यात्मकता' का संबंध भाषा के विशिष्ट कार्य फलन के साथ जोड़कर भी देखने के पक्ष में है । अगर पहले वर्ग की आलोचना पद्धति 'कविता, को केंद्र में मानकर काव्यात्मक लक्षणों की विवृति कविता-उद्धरणों के माध्यम से करती है तब दूसरे वर्ग की आलोचना पद्धति 'काव्यात्मकता' पर अपना ध्यान केंद्रित कर कविता की विवेचना को इन 'काव्यात्मक लक्षणों' को समष्टि अभिव्यक्ति के संदर्भ में रखती है और 'काव्यात्मक लक्षणों' की व्याख्या भाषा के विभिन्न कार्यफलन (functions) के आधार पर करने के पक्ष में है ।

दूसरे वर्ग के प्रतिनिधि आलोचक के रूप में रोमन याकोब्सन (Roman Jakobson) का नाम लिया जा सकता है जिनके प्रभावशाली व्यक्तित्व ने प्रारंभ में रूसी 'रूपवादी' आलोचना को प्रभावित किया, फिर 'प्राग' स्कूल के सिद्धांत को स्थिरता प्रदान की और जो संप्रति अमेरिकी भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण और शैलीविज्ञान को नया मोड़ देने में समर्थ सिद्ध हुआ है उसके अनुसार कार्यफलन के विभिन्न आयाम पर भाषा का अध्ययन होना चाहिए और भाषा के 'काव्यात्मक' कार्यफलन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसके इस कार्यफलन को भाषा के अन्य विभिन्न कार्य-फलन के परिप्रेक्ष्य में रखकर उसकी विवेचना प्रस्तुत की जाए ।

भाषा मूलतः प्रभाव संचार (communication) का एक साधन है और भाषा के विभिन्न कार्यफलन इस प्रभाव-संचार के विभिन्न उपकरणों के संदर्भ में ही निर्धारित हो सकते हैं । प्रक्रिया के रूप में एक ओर वक्ता (addresser) होता है जो 'संदेश' (message) भेजता है । दूसरी ओर श्रोता (addressee) रहता है जो इस 'संदेश'

को ग्रहण करता है। वक्ता और श्रोता के इस संदेश की पृष्ठभूमि में 'संहिता' (code) रहती है जो वक्ता और श्रोता की भाषिक चेतना और एक दूसरे के ज्ञान के संदर्भ में लगभग एक जैसी होती है अथवा एक दूसरे से अपनी प्रकृति में मिलती-जुलती होती है। 'संदेश' का एक संदर्भ (context) होता है जिसे बाह्य एवं आंतरिक जगत के उपादानों का संकेतार्थ (referent) कहा जा सकता है। 'संहिता' और 'संदेश' के संप्रसारण के लिए वक्ता और श्रोता के बीच भौतिक अथवा मानसिक संबंधपरक एक माध्यम होता है जो इनके बीच संपर्क (contact) स्थापन का उपादान बनता है। नीचे दी गयी तालिका में प्रभाव-संचार के विभिन्न उपादानों को उनके अंतर संबंधों के साथ रखा गया है।



प्रभाव-संचार प्रक्रिया के ये छः उपादान भाषा-रूपों एवं उसके कार्यफलन की विभिन्न प्रकृति को निर्धारित करते हैं। किसी भी भाषिक प्रभाव-संचार की स्थिति में इन सभी उपादानों की सत्ता देखी जा सकती है पर स्थितियों की विभिन्नता एवं प्रभाव-संचार के उद्देश्यों की अपनी विभिन्नता इन विभिन्न छः अवयवों के विभिन्न आनुपातिक संयोग की माँग करती है। उदाहरण के लिए सामान्य वार्तालाप की स्थिति में बल 'संदर्भ' पर होने के कारण भाषा की प्रकृति मूलतः संकेतार्थपरक (referential) हो जाती है पर इसका यह अर्थ नहीं कि प्रभाव-संचार के अन्य उपादान अपनी सत्ता ही खो बैठते हैं। इसी प्रकार कविता में प्रभाव-संचार की जो संवाद-स्थिति होती है बल 'संदेश' पर दिया जाता है पर 'संदेश' पर बल देने मात्र से भाषा के संकेतार्थ अथवा भावार्थपरक पक्षों की सत्ता मिट नहीं जाती।

प्रभाव-संचार की वास्तविक स्थिति के संदर्भ में भाषा के विभिन्न कार्यफलन को नीचे दी गयी तालिका में व्यक्त किया गया है ।

	संकेतपरक (referential) काव्यपरक (poetic)	
भावात्मक (emotive)		अभिधायक (conative)
	संपर्कपरक (phatic) तर्कपरक (metalinqual)	

जैसा ऊपर संकेत दिया गया है—भाषा, एक है पर प्रभाव-संचार प्रक्रिया के संदर्भ में उसके कार्यफलन भिन्न हैं । दूसरी बात भी ध्यान देने योग्य है कि एक कार्यफलन की उपस्थिति अथवा उसकी प्रधानता, दूसरे कार्यफलन की सत्ता को मिटा नहीं देती अपितु उसे अप्रधान या गौण बना दिया करती है । 'कविता' और 'काव्यात्मकता' के अंतर को सही संदर्भ में सामने रखने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि काव्यात्मकता वस्तुतः भाषा का काव्यपरक लक्षण (poetic feature) होने के कारण कविता की सीमाओं का अतिक्रमण भी करती है । इस अतिक्रमण के प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में विभिन्न साहित्यिक विधाओं में कविता के विभिन्न कार्यरूपों को दृष्टांत स्वरूप रखा जा सकता है । उदाहरण के लिए हम 'महाकाव्य', 'गीत-काव्य', 'गीत-नाट्य' आदि को ही लें । ये सभी विधाएँ कविता की अपनी विधाओं के रूप में स्वीकृत हैं पर जब 'महाकाव्य' की भाषा पर ध्यान देते हैं तब भाषा के मूल 'काव्यपरक' कार्यफलन के साथ उसमें भाषा के 'संकेतपरक' कार्यफलन के संयोग को अन्य विधाओं की तुलना में अधिक अनुपात में पाते हैं, गीत-काव्य में इस 'संकेत-परक' कार्यफलन के स्थान पर भाषा के 'भावपरक' कार्यफलन को अधिक मात्रा में स्थित पाते हैं और 'गीत-नाट्य' में आधारभूत 'काव्यपरक' कार्यफलन के साथ 'अभिधायक' कार्यफलन का अधिक आनुपातिक समावेश पाते हैं । इन काव्य-विधाओं में काव्य परक भाषा-रूप समानभाव से आधारभूत रूप में रहता है पर महाकाव्य का संदेश (message) अन्यपुरुष पर केंद्रीत होने के कारण 'संदर्भ' (context) संवलित होता है और संदर्भ संवलित होने के कारण उसकी भाषा में संकेतपरक कार्यफलन का भी समावेश हो जाता है । गीत-काव्य, आत्माभिव्यक्ति का साधन है अतः संवाद की स्थिति में संदेश वक्ता अर्थात् प्रथम-पुरुष को केंद्र में मानता है इसलिए उसकी भाषा में भावपरक कार्यफलन का भी समावेश रहता है । गीतनाट्य, नाटक होने के कारण संवाद-स्थिति में श्रोता की भी अपेक्षा रखता है अर्थात् प्रभाव-संचार प्रक्रिया की स्थिति में श्रोता की ओर मुड़े होने के कारण वह मध्यम-पुरुष को केंद्र में रखता है

अतः काव्यपरक कार्यफलन के साथ उसमें भाषा के अभिधायक कार्यफलन का भी संयोग अनुपाततः अधिक मिलता है ।

\+ \+ \+ \+

अगर 'कविता भाषा की ही एक विधा है', तब यह भी कहा जा सकता है कि 'काव्यात्मकता' का गहरा संबंध भाषा की प्रतीक-पद्धति की अपनी संयोजना से है । और अगर यह माना जाए कि विज्ञान, अपनी अभिव्यक्ति प्रणाली के संदर्भ में कविता के ठीक विरोध में है तब तर्कभाषा और काव्य-भाषा की प्रतीक पद्धति, विज्ञान और कविता के बीच पाये जाने वाले प्रभेदक लक्षणों (distinctive features) के दो छोर ही सिद्ध होगी । इसके साथ अगर यह भी स्वीकार करलें कि भाषा की मूल प्रकृति सामान्य बोलचाल की भाषा-शैली में प्रतिफलित होती है और उसमें तर्क और काव्य, दोनों ही भाषा-रूप मिलते हैं, तब यह भी कहा जा सकता है कि विज्ञान और कविता दोनों ही सामान्य भाषा को मूलाधार मानकर उसे अपनी प्रतीक-पद्धति के अनुरूप बनाने के लिए सृजनात्मक प्रयास करते हैं ।

यहाँ संक्षेप में उन प्रभेदक लक्षणों पर विचार कर लेना असमीचीन न होगा जो अपनी प्रकृति और कार्यफलन के आधार पर तर्कभाषा और काव्य भाषा को दो भिन्न प्रतीक पद्धति सिद्ध करते हैं ।

(1) तर्कभाषा और काव्यभाषा का अंतर मूलतः 'संहिता' (code) और 'संदेश' (message) का अंतर है, तर्कभाषा, सामान्य भाषा के संदर्भ में प्रधानतः 'संहिता-सापेक्ष' होती है और काव्यभाषा, 'संदेश-सापेक्ष' ।

संहिता, भाषा की वह आंतरिक व्यवस्था होती है जो अपनी प्रतीक-पद्धति के संदर्भ में ही परिभाषित होती है और जिसकी इकाइयाँ अपने पारस्परिक संबंधों के आधार पर ही निर्णीत और निर्धारित होती हैं । 'संदेश' का संबंध भाषा की उस प्रतीक-व्यवस्था से रहता है जो वक्ता के अपने अनुभवों से संयुक्त रहती है और जो बाह्य-जगत से अपना अविच्छिन्न संबंध बनाये रखती है ।

सामान्य भाषा में 'संदेश', वक्ता के अपने दृष्टिकोण और बाह्य जगत संबंधी अन्य सूचनाएँ संप्रेषित करने में सक्षम रहता है बाह्य जीवन की ये सूचनाएँ काव्य-वस्तु का उपांग बनने के कारण कविता की अपनी वस्तु बनती हैं और एक बार जब वे कविता में बँध जाती है तब अपनी सत्ता के लिए बाह्य जीवन की मुखापेक्षी नहीं रह जाती । सामान्य भाषा के शब्द इंद्रिय-ग्राह्य बहिर्जगत के किसी न किसी पदार्थ अथवा भाव के सूचक होते हैं पर काव्य-भाषा के शब्द, बहिर्जगत के सूचक तत्व से मुक्त होकर काव्यार्थ को उद्घाटित करते चलते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि अंतर्जगत के भावों को जब बहिर्जगत की भाषा में व्यक्त किया जाता है तब एक

ओर काव्य-वस्तु के संदर्भ में बहिर्जगत की उपस्थिति का एक सीमा तक बाध भी होता चलता है और दूसरी ओर संकेतार्थ के इस बाध के परिणामस्वरूप, सामान्य भाषा द्वारा संकेतित बिंब की इंद्रियग्राही प्रकृति में गुणात्मक अंतर भी उत्पन्न होता जाता है। उदाहरण के लिए 'ज्वलंत सरसिज', 'अंगारी उत्तर', 'चीखते शब्द' आदि प्रयोगों को ही लें। सरसिज, उत्तर और शब्द के ऊपर अगर हम क्रमशः 'ज्वलंत', 'अंगार' और चीख' शब्दों के बहिर्जगत की इंद्रिय-ग्राह्य मूर्त छबियों का आरोपण करें तब अर्थ का अनर्थ ही होगा। इन मूर्त-छबियों के संकेतार्थ का बाध कर ही हम काव्यार्थ तक पहुँच सकते हैं।

उदाहरण के लिए नारी-जीवन संबंधी गुप्तजी का यह काव्य-कथन लें :

'अबला जीवन, हाय, तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी'

'आँचल' शब्द को ही देखें। आँचल और दूध के बीच का संबंध 'में' परसर्ग से स्पष्ट है। वाच्यार्थ के द्वारा आँचल, दूध के लिए आधार-पात्र के रूप में सामने आता है ठीक उसी प्रकार जैसे आँसू के लिए 'आँखें' आधारपात्र रूप में सिद्ध हैं। लेकिन दूध तरल पदार्थ है और आँचल अनेक रंध्रों से युक्त पदार्थ। लोक-व्यवहार से यह सिद्ध है कि आँचल में दूध के लिए आधार-पात्र बनने की क्षमता ही नहीं। पर जिस प्रकार 'आँख' से संदर्भित होकर 'पानी' शब्द का संकेतार्थ 'आँसू' में रूपांतरित हो जाता है उसी प्रकार 'दूध' शब्द के सान्निध्य से 'आँचल' का भी संकेतार्थ 'स्तन' में ढल जाता है। 'स्तन' चंदन-लेप से सुशोभित होकर शृंगार भाव का उद्दीपक भी बन सकता है और दूध से संयुक्त होकर मातृत्व भाव की प्रबलता का आलंबन भी। अतः 'आँचल में है दूध' उपवाक्य का अर्थ हुआ 'नारी जीवन के मातृत्व भाव की प्रबलता।' पर यह उपवाक्य संयोजक 'और' शब्द द्वारा संयुक्त है एक दूसरे उपवाक्य से—'आँखों में पानी।' जलसिक्त आँखें, नारी-जीवन की परवशता और करुण स्थिति की अभिव्यंजक हैं। 'और' शब्द से जुड़कर ये दोनों कथन एक दूसरे से टकराकर एक 'अंडरटोन' को ध्वनित करते हैं जो कथन के पूर्व-पक्ष 'अबला जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी' को बेधकर नारी जीवन की एक विशिष्ट विडंबना को उद्घाटित करने में समर्थ बन जाते हैं। 'अबला' शब्द नारी-जीवन की बलहीनता और करुण-स्थिति दोनों की ओर संकेत करता है और उसकी जीवन-कहानी, 'आँखों में पानी' की ओर संकेत करती है। लेकिन यह तो स्थिति की विद्रूपता या परिस्थितियों की विडंबना नहीं ? संपूर्ण कथन के संदर्भ में प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त 'हाय' ! शब्द से जो व्यंग्य ध्वनित होता है वह 'आँचल में है दूध' और 'आँखों में पानी' के वाच्यार्थ की टकराहट में अपना उत्तर पाता है—'मातृत्व की गरिमा से मंडित और फिर भी 'परवश, दयनीय और करुण जीवन'-यापन !

ध्यान देने की बात है कि काव्य-भाषा, संदेश-सापेक्ष तो होती है पर साथ ही बल उसमें 'संदेश' की अपनी संघटना पर होता है। परिणामस्वरूप उसके द्वारा संप्रेषित सूचनाएँ बाह्य संसार की ओर न मुड़कर शाब्दिक रूप (verbal form) के निर्माण की ओर प्रवृत्त होती है। स्टैंकविक्ज़ (1961, 15) के अनुसार इस प्रकार वह 'कांट' द्वारा निर्देशित कलात्मक लक्ष्य—'उद्देश्यविहीन उद्देश्य' के निर्माण का कारण बनती है, काव्य-भाषा, संदेश की आंतरिक संघटना पर बल देने के कारण उद्देश्यपूर्ण होती है पर 'संदेश' का यह रूप बाह्य संसार के संदर्भ से कटकर निरुद्देश्य हो जाता है।

कविता का विशिष्ट अर्थ वस्तुतः 'संदेश' की इस आंतरिक संघटना का परिणाम होता है और यही कारण है कि नयी आलोचना, काव्यार्थ को काव्य-संरचना के भीतर ही पाना चाहती है। उसके अनुसार कविता की सिद्धि, 'संदेश' की अपनी इकाइयों द्वारा निर्मित आत्यंतिक मूल्यों (terminal values) के अलग, विशिष्ट और अपने में पूर्ण संसार की सृष्टि में है। वास्तविक संसार और आत्यंतिक मूल्यों के सहारे निर्मित संसार दो भिन्न इकाइयाँ हैं। पहले संसार का अनुभव-बोध हमें भाषा के सामान्य प्रयोग द्वारा होता है जब कि आत्यंतिक मूल्यों के सहारे निर्मित संसार, पूरा का पूरा साहित्यिक कृति की सीमा-रेखा में बँधे होने के कारण भाषा की एक विशिष्ट शैली के माध्यम द्वारा ही जाना पहचाना जा सकता है (लीच, 1969, 147)।

यहाँ यह भी तथ्य महत्वपूर्ण है कि 'कलात्मक लक्ष्य' के रूप में स्वीकृत 'उद्देश्यविहीन उद्देश्य' का संबंध काव्यात्मक लक्षण (poetic feature) के साथ है, न कि कृति के साथ। भाषा के काव्यपरक कार्यफलन का संबंध प्रभाव-संचार प्रक्रिया के 'संदेश' तत्व के साथ रहता है और इसी 'संदेश' की आंतरिक संघटना को 'काव्यात्मकता' अपना लक्ष्य बनाती है पर कृति के रूप में कविता, न तो मात्र 'संदेश' होती है और न उसका भाषा में मात्र 'काव्यपरक' कार्यफलन ही रहता है। यह पहले संकेत दिया जा चुका है कि कार्यफलन के रूप में भाषा के किसी एक लक्षण (feature) की प्रमुखता का यह अर्थ नहीं होता कि अन्य 'लक्षणों' (features) की सत्ता ही समाप्त हो गयी है।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अकाव्यात्मक भाषा केवल खिड़की के उस पारदर्शी शीशे के समान होती है जिसके सहारे बाह्य जीवन को देखा, समझा और उसका अनुभव किया जा सकता है। पर कविता के लिए भाषा मात्र माध्यम का ही कार्य नहीं करती अपितु वह उसकी संरचना और उसमें निहित 'संदेश' की संघटना का अंग भी बनती है अर्थात् कविता भाषा द्वारा मात्र अभिव्यक्त नहीं होती वरन् 'काव्यात्मकता' को जन्म देती हुई भाषा का अभिन्न अंग भी बनती है। यही कारण है कि काव्यभाषा एक साथ 'खिड़की का पारदर्शी शीशा' भी है

और 'दर्पण का सेट' भी (मरे क्रियगर, 1964)। 'पारदर्शी शीशे' के रूप में एक स्तर पर वह बाह्य-जीवन के उपादानों की ओर संकेत देती रहती है और काव्यात्मकता को बाँधते हुए एक दूसरे स्तर पर 'दर्पण के सेट' के रूप में बाह्य जीवन की छवि को एक गुणात्मक भेद के साथ अंत रूप में अपने भीतर प्रतिबिंबित भी करती रहती है।

(2) तर्कभाषा और काव्यभाषा अपनी वर्णन-विधि और प्रतीक-पद्धति की संयोजना के आधार पर भी एक दूसरे की विरोधी है। तर्कभाषा में प्रतीक (sign) और संकेतिक वस्तु (referent) के संबंधों की अभिव्यक्ति समानाधिकरणिक (equational or oppositive) होती है और उसकी प्रतीक-पद्धति का संयोजन समीकरण के सिद्धांत को लेकर चलता है। काव्य-भाषा में बल इस हेत्वाभास पर रहता है कि प्रतीक और संकेतित वस्तु एक होकर भी एक नहीं है। काव्यात्मकता का मूल लक्ष्य इस हेत्वाभास को यथार्थता प्रदान करना है। प्रतीक-पद्धति की जिस प्रकृति को काव्य-भाषा अपनाती है वह समीकरण के सिद्धांत पर नहीं वरन् सम-मूल्य और तुल्यार्थक (equivalence) सिद्धांत पर आधारित होती है।

प्रतीक-पद्धति की तुल्यार्थक संयोजना को याकोब्सन ने प्रतीकों के चुनाव (selection) और संसर्ग (combination) के आधार पर समझाने का प्रयास किया है। अगर किसी कथन में 'स्त्री' प्रकरण (topic) है तब कवि, उससे मिलते-जुलते प्रतीकों में से किसी एक का चुनाव करता है 'स्त्री' के समानार्थी 'नारी, रमणी, वनिता, ललना, अंगना, वामा, महिला, अबला, कुलजा, तरुणी, प्रमदा, सुंदरी, सुभगा' आदि कई अन्य शब्द-प्रतीक हैं। गुप्तजी ने ऊपर उद्धृत काव्यांश 'अबला जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी', में इनके बीच से एक निश्चित प्रतीक 'अबला' का चयन किया है। चयन में भी सार्थकता होती है और यह सार्थकता, संकेतार्थ में एक अतिरिक्त अर्थ को व्यंजित करने में समर्थ है। 'अबला' में 'स्त्री' संकेतार्थ के अतिरिक्त स्त्री-जीवन की निर्बलता, अशक्यता और दारुण स्थिति की भी अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार 'प्रकरण' की व्याकृति (comment) के संदर्भ में एक शब्द-प्रतीक है 'कहानी'। इसके समानार्थी 'गल्प, गाथा, वृत्तांत, आख्यान' आदि कई शब्द-प्रतीक हैं पर 'कहानी' के चुनाव में घटनाओं की क्रमिकता, और इतिहास का समय प्रवाह दोनों सम्मिलित हैं।

'चुनाव' के प्रश्न का निराकरण 'तुल्यार्थक' सिद्धांत के आधार पर किया जाता है अर्थात् शब्द-प्रतीकों के 'चुनाव' के विकल्प की स्थिति में पहले तुल्यार्थक सिद्धांत के आधार पर उपकथनों के बीच की समता-विषमता, पर्याय और विपर्यय आदि का कवि मूल्यांकन करता है और फिर सन्निधि (contiguity) के सिद्धांत के आधार पर एक निश्चित प्रतीक-पद्धति के अंग के रूप में शब्द-प्रतीकों को योजनाबद्ध करता है। याकोब्सन के अनुसार 'काव्यात्मक कार्यफलन, चुनाव के धरातल

से सन्निधि के धरातल पर तुल्यार्थक सिद्धांत का प्रक्षेपण करता है ।' (The poetic function projects the principle of equivalence from the axis of selection into the axis of combination. R. Jakobson. 1960, 358) ।

(3) ऊपर संकेत दिया जा चुका है कि कविता में प्रतीक (sign) और 'संकेतित वस्तु' (eeferent) के संबंधों को लेकर इस हेत्वाभास को यथार्थता प्रदान की जाती है कि ये दोनों एक होकर भी एक नहीं हैं । समानता और असमानता के इस अंत-विरोध का बोध और उस अंतर्विरोध का निराकरण ही लाक्षणिक प्रयोग का मूलाधार बनता है । कहने का तात्पर्य यह है कि तर्क-भाषा, अभिधामूलक होती है पर काव्य-भाषा मूलतः लाक्षणिक ।

लक्षणा-शक्ति की स्वीकृति और काव्य-संवेदना के मूल में इस शक्ति की सत्ता की अनिवार्य स्थिति मानने वालों में संस्कृत-काव्यशास्त्रियों में भामह और उद्भट का नाम लिया जा सकता है । इनके अनुसार कविता में कलात्मकता का मूलाधार लक्षणा शक्ति ही है । आनंदवर्द्धन लक्षणाशक्ति की सत्ता से इनकार नहीं करते पर इसके कार्य-क्षेत्र को सीमित कर 'लक्षणा' के स्थान पर 'व्यंजना' को 'काव्यात्मकता' की चरम परिणति मानने के पक्ष में हैं । जिन आलोचकों ने 'काव्य-पाठ' (poem) के भीतर ही काव्यात्मकता को ढूँढ़ने का प्रयास किया है, उन्होंने काव्य के मूल में इस लक्षणा-शक्ति को ही मूल काव्य-शक्ति माना है । उदाहरण के लिए 'जयदेव' के अनुसार ध्वनि-रस का एक ओर अंलकार में अंतर्भाव है और दूसरी ओर विभिन्न अंलकारों के मूल में लक्षणा-शक्ति कार्य करती है :

शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे संख्यायां कारके तथा ।
लिंगे चेयमलंकारांकुरबीजलथा स्थिता ॥

(चन्द्रालोक 1 । 16)

लक्षणा-शक्ति का प्रयोग वैसे सामान्य भाषा में भी देखा जा सकता है, यथा—"किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना या डूबना, मन मारना, मन छूना, शोभा बरसना, उदासी टपकना" आदि । पर सामान्य भाषा में पाये जाने वाले लक्षणा के ये प्रयोग 'कवि समय-सिद्ध' उक्तियाँ हैं जो बोलचाल में रूढ़ होकर आ गई हैं । इनमें भाषा की वह जीवंत शक्ति नहीं रह जाती जिसके सहारे काव्य-भाषा 'असामान्य' और 'संवेदना के नये धरातल' को पकड़ना चाहती है । सामान्य भाषा में पाई जाने वाली लक्षणापरक ऐसी रूढ़ और मृत उक्तियों को ही देखकर संभवतः ऐमर्सन ने कहा है कि, "(सामान्य) भाषा, कविता का ही जड़-रूप है ।"

सामान्य भाषा और कविता के संदर्भ में लक्षणा-शक्ति के कार्य भिन्न-भिन्न हैं । गद्य के संदर्भ में विषय-वस्तु को वह पाठक (श्रोता) की संवेदना के अधिक समीप लाती है, वह कथ्य के अभिप्रेत को केंद्रीभूत करती है और सूक्ष्म अगोचर भावनाओं को मूर्त गोचर रूप प्रदान करती है । कविता के संदर्भ में वह अर्थ को

घनीभूत (dense) बनाती है, काव्य-वस्तु को 'सामान्य' से 'असामान्य' की ओर ले जाती है और विषय-वस्तु को 'संवेदनाओं के एक नए धरातल' पर पहुँचाती है।

श्कालोव्स्की (1919) के अनुसार जिस प्रकार समुद्र के किनारे रहने वाले व्यक्ति समुद्र के गर्जन और कोलाहल के संगीत के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि उसका नाद-सौंदर्य उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखता, उसी प्रकार जिन शब्दों एवं उक्तियों का जिन संदर्भों में हम बार-बार प्रयोग करते हैं उनके हम इतने अभ्यस्त हो उठते हैं कि वे उक्तियाँ हमारे लिए स्थिर एवं निर्जीव सी प्रतीत होती हैं। उन संदर्भों में हमारी संवेदनाएँ इतनी जड़ और स्थिर हो जाती हैं कि हम उनके द्वारा संकेतित वस्तु को केवल पहचान पाते हैं लेकिन अनुभव नहीं कर सकते। काव्य-भाषा के संदर्भ में 'लक्षणा' का हर नया प्रयोग अभ्यस्त जीवन की हमारी स्थिर एवं जड़ीभूत संवेदनाओं के प्रस्तर धरातल को तोड़कर अनुभूतियों के गतिशील और तरल संसार का निर्माण करता है, वह परिचित वस्तुओं को भी अपरिचित धरातल पर खड़ा कर नूतन संदर्भ प्रदान करता है।

(4) तर्क-भाषा और काव्य-भाषा के अंतर का चौथा प्रभेदक लक्षण है—अर्थ का एकस्तरीय और बहुस्तरीय पक्ष। 'संदेश' पर ध्यान केंद्रित करने के कारण अकाव्यात्मक वाक्य में क्रमबद्ध ढंग (linear order) से अपने-अपने स्तरों पर स्थित स्वनिष्ठ (autonomous) इकाइयां रूपांतरित होकर अस्वनिष्ठ (non-autonomous) और बहुस्तरीय (multidimensional) बन जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि विशिष्ट अर्थ को बाँधने के प्रयास में इकाइयों की क्रमबद्धता टूट कर केंद्रीभूत हो जाती है और शब्द, प्रतीकत्व की सीधी प्रकृति छोड़कर लाक्षणिक अर्थ-निर्माण के कारण 'अबौद्धिक' और 'अतर्क्य' इकाई बन जाते हैं।

तर्क-भाषा की प्रतीक-पद्धति की क्रमबद्ध योजना के विपरीत काव्य-भाषा संदेश-संप्रेषण के लिए जिस पद्धति को अपनाती है वह सापेक्षतया क्रमहीन होती है। (पर इसके साथ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस क्रमहीनता में भी एक निश्चित क्रम होता है, काव्य-भाषा की लचीली पद्धति में भी एक काठिन्य नैयमिक विधान (regularity) होता है।) काव्य-भाषा का यह नैयमिक अतिक्रम (regular irregularity or deviations), भाषा के विभिन्न स्तरों की इकाइयों को बहुस्तरीय बनाने के कारण आता है। स्तरों की टकराहट, व्याकरण और शब्दकोष, अर्थ और ध्वनि, वाक्य और उपवाक्य, उपवाक्य और पदबंध आदि स्तरों के आपसी तनाव के रूप में व्यक्त होती है। इस तनाव का मूल कारण यह है कि काव्य-भाषा की इकाइयाँ एक तरफ 'संहिता' के साथ संबद्ध होने के कारण अपने-अपने स्तरों पर स्वनिष्ठ बनने की ओर प्रवृत्त होती हैं और दूसरी तरफ 'संदेश' के 'अबौद्धिक' और 'अतर्क्य' पक्ष को पकड़ने के हेतु वे 'अस्वनिष्ठ' और 'बहुस्तरीय' बनने के लिए बाध्य भी रहती हैं।

(5) कलात्मक संघटना काव्य-वस्तु के बहुस्तरीय पक्ष की अभिव्यक्ति का परिणाम होती है। यहाँ ध्यान देना आवश्यक है कि काव्य-वस्तु के बहुस्तरीय पक्ष

के निर्माण में उसके विभिन्न पक्षों की विषमता को मिटाया नहीं जाता अपितु उनकी विषमता को बिना मिटाए ही उनके बीच एक आंतरिक अन्विति स्थापित की जाती है। (इसका विवेचन विस्तारपूर्वक पहले किया जा चुका है।)

(6) जिस अभिव्यक्ति-पद्धति को विज्ञान अपनाता है उसकी प्रकृति निर्वचनात्मक (operational) होती है अतः उसके प्रकथन को अपने निम्नतर प्रकथन और 'डेटा' के संदर्भ में असत्य एवं अप्रामाणिक सिद्ध किया जा सकता है। पर जैसा दूसरे भाषण में विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है, कविता की अभिव्यक्ति-पद्धति की प्रकृति प्रस्तुतीकरण (presentation) की होती है अतः उसकी उक्तियों का खंडन इस रीति से संभव भी नहीं। आगे बढ़कर तो यह भी कहा जा सकता है कि कविता की उक्तियाँ होती ही ऐसी हैं जो तर्क-विरोधी और व्यावहारिक ज्ञान के संदर्भ में असंगत लगती हैं पर ऊपर से असंगत प्रतीत होने वाली उक्तियों को कविता की पूरी संरचना के संदर्भ में रखने पर उनका सहज समाधान भी हो जाता है।

(7) शब्द या वाक्य के रूप में प्रतीक (sign), प्रत्यय (कथ्य) और अभिव्यक्ति (वर्णविन्यास) के एकीकरण का परिणाम होता है। कालिदास का कथन 'वागर्था विव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये', लिंगपुराण की उक्ति 'अर्थः शम्भुः शिवा वाणी' अथवा तुलसीदास की पंक्ति 'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' पूर्णतः सार्थक कथन है। संस्कृत के व्याकरणाचार्यों ने भी प्रत्यय और अभिव्यक्ति की अखंडता की ओर संकेत दिया है :

'पदे न वर्णा विद्यंते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यंतं प्रविवेको न कश्चन॥

—वैयाकरणभूषणसार

प्रतीक के अभिव्यक्ति-पक्ष के श्रवण के साथ उसका प्रत्यय भी मन में तत्काल उभरता है और प्रत्यय का बोध बिना उसके अभिव्यक्ति-पक्ष का अवलंबन लिए असंभव है।

तर्क-भाषा और काव्य-भाषा का सातवाँ प्रभेदक लक्षण प्रतीक के प्रत्यय और अभिव्यक्ति-पक्ष के संबंधों की प्रकृति है; तर्क-भाषा में इस संबंध को स्थिर बनाकर प्रतीक को एकार्थी बनाने का प्रयास होता है और काव्यभाषा की सृजनशीलता इस संबंध को लचीला बनाकर प्रतीक को अनेकार्थी बनाने में रहती है।

एक ओर एक ही प्रत्यय को भिन्न-भिन्न अभिव्यक्त रूपों में व्यक्त करना संभव है और दूसरी ओर एक ही अभिव्यक्त रूप, भिन्न-भिन्न प्रत्ययों की ओर संकेत देने में सक्षम है। शब्द के रूप में 'अंक' के 'संख्या, चिह्न, गोद, अक्षर, पार्श्व आदि' बत्तीस अर्थ हैं (देखिये, हिंदी शब्द-सागर, प्रथम भाग) और 'कमल' फूल के संकेतार्थ को व्यक्त करने के लिए 'पंकज, जलज, नीरज, सरसिज, पद्म आदि' कई अन्य

शब्द हैं। वाक्य के रूप में एक ही कथन, यथा—'सुन्दर लड़की ने आम खाया' को कई अभिव्यक्ति-रूप देना संभव है, जैसे—(1) लड़की जो सुन्दर है उसने आम खाया, (2) आम सुन्दर लड़की ने खाया आदि। इसी प्रकार एक ही अभिव्यक्ति-रूप वाक्य के एक से अधिक अर्थ भी संभव हैं, यथा—'राम ने दौड़ते हुए शेर को मारा' को दो अर्थ देना संभव है—(1) राम ने शेर को मारा, राम दौड़ रहा था; (2) राम ने शेर को मारा, शेर दौड़ रहा था।

'शब्द' वैसे तो यहाँ प्रतीक (sign) के रूप में स्वीकार किया गया है पर सामान्य भाषा में वर्णविन्यास (अभिव्यक्ति-पक्ष) की एकरूपता के आधार पर भिन्न-भिन्न अर्थों को व्यवत करने वाले भिन्न-भिन्न प्रतीक एक ही 'शब्द' के रूप में स्वीकृत मिलते हैं। 'भामह', 'प्रत्यय' और 'अभिव्यक्ति' के संबंधों के विशिष्ट (चमत्कारपूर्ण) प्रयोग को ही काव्य का मूलाधार मानते हैं पर उनका कथन है—'शब्दार्थौ काव्यम्'। काव्य-भाषा में इन संबंधों का सोद्देश्य बहुस्तरीय प्रयोग कर श्लेष-अलंकार की योजना मिलती है। 'मम्मट' के अनुसार अर्थ-विभेद के कारण शब्द-प्रतीक वर्ण-विन्यास की एकरूपता के बावजूद भी भिन्न-भिन्न प्रतीक-इकाइयाँ हैं पर ये भिन्न प्रतीक-इकाइयाँ (शब्द) जब (जतुकाष्ठन्याय से) मिलकर एकरूपी हो जाते हैं तब श्लेष अलंकार उत्पन्न होता है :

"वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः
श्लिष्यन्ति शब्दाः, श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।"

दण्डी ने 'श्लेष' को ही उपमा, रूपक, आक्षेप और व्यतिरेक आदि अलंकारों के अंगभूत रूप में स्वीकार किया है। (काव्यादर्श 2/313) और इसे प्रत्यय और अभिव्यक्ति के संबंधों की विशिष्ट परिणति स्वरूप काव्यात्मकता का जनक स्वीकार किया है—'श्लेषः पुष्णाति सर्वासु प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।'

यह भी द्रष्टव्य है कि तर्क-भाषा द्वारा व्यंजित अर्थ प्रायः संकेतार्थ की ओर मुड़ा रहता है अतः कमल, पंकज, नीरज आदि शब्द-प्रतीकों में किसी एक का चुनाव एवं प्रयोग उसके लिए कोई विशेष महत्व नहीं रखता। पर काव्य-भाषा का अर्थ संकेतार्थ से बँधकर भी उससे मुक्त हो सकता है। साथ ही वह व्युत्पत्तिमूलक (etymological) अर्थ को भी ध्यान में रखता है। 'पंकज' और 'जलज' दोनों ही 'कमल' वस्तु की ओर संकेत करते हैं पर एक उसे कीचड़ के साथ जोड़कर 'गूदड़ी के लाल' अथवा 'विपन्नता में भी स्थिर, कोमल और उदात्त' रूप में सामने लाता है और दूसरा जल के साथ उसे जोड़ कर 'जनक' की भाँति अपने वातावरण से अप्रभावित और निश्छल सिद्ध करने की ओर प्रवृत्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्यार्थ की काव्यात्मकता, शब्द रूपों के पर्याय और विपर्यय पक्ष को छोड़कर सिद्ध नहीं हो सकती है।

प्रत्यय और अभिव्यक्ति-पक्ष के संबंधों की लचीली प्रकृति की काव्यात्मक परिणति देखने के लिए नीचे दिए काव्यांश में 'गोल-गोल' शब्द के अभिव्यक्त रूप को ही लें :

"मात्र अनस्तित्व का इतना बड़ा अस्तित्व
ऐसे घुप्प अँधेरे का इतना तेज़ उजाला
लोग-बाग
अनाकार ब्रह्म के सीमाहीन शून्य के
बुलबुले में यात्रा करते हुए गोल-गोल
गोल-गोल
खोजते हैं जाने क्या ?
बेछोर सिफ़र के अँधेरे में बिला बत्ती सफ़र
भी खूब है।

(मुक्तिबोध—'एक अरूप शून्य के प्रति')

अभिव्यक्ति-रूप में 'गोल-गोल' शब्द-प्रतीक एक होते हुए भी प्रत्यय और अभिव्यक्ति के संबंधों के आधार पर दो हैं। पहला 'गोल-गोल' विशेषण-रूप है जो यात्रा की निरर्थकता को व्यंजित करता है। इसका एक अर्थ 'अंधेरे में विला-वत्ती सफ़र' है। दूसरा 'गोल-गोल' संज्ञा-रूप है जो 'बेछोर सिफ़र' 'अनाकार ब्रह्म' है जो मूलरूप में 'अनस्तित्व' और 'घुप्प अँधेरा' है, यह 'सीमाहीन शून्य' है उस 'अनाकार ब्रह्‌म' का जिसका कोई अस्तित्व नहीं, फिर भी लोग हैं कि उसको ढूँढने के निमित्त 'गोल-गोल' (व्यर्थ में) चक्कर लगाते हैं।

(8) तर्क-भाषा, जिस ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती है उसके सिद्धांतों द्वारा 'प्रतीक' को परिभाषित कर एकार्थी बनाती है। इसके विपरीत काव्य-भाषा में प्रयुक्त प्रतीक भी एकार्थी हो सकता है पर उसके अर्थ को विशिष्टता वस्तुतः संदर्भ-अनुप्राणित होती है।

तर्क-भाषा का प्रतीक, वैज्ञानिक शब्द (term) होता है पर काव्य-भाषा का प्रतीक विशिष्ट' होकर भी 'सामान्य' बना रहता है। वैज्ञानिक शब्द और काव्यपरक शब्द, दोनों दो विभिन्न क्षेत्रों के प्रभुत्व में रहते हैं, दोनों ही एक दृष्टि से सामान्य भाषा के सामान्य प्रयोग से दबे रहते हैं पर जब एक विज्ञान के विभिन्न सिद्धांत-क्षेत्रों के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में परिभाषित होता है (जैसे 'पद'-समाजशास्त्र, भाषा-शास्त्र, सामान्य जीवन आदि क्षेत्रों में भिन्न अर्थों की ओर संकेत देता है) तब दूसरा जीवन के विभिन्न संदर्भों से संयुक्त होकर 'सामान्य' से 'असामान्य' बनता है। उदाहरण के लिए 'चलना' शब्द-प्रतीक में अभिव्यक्ति-पक्ष की बाह्‌य समानता भले ही दिखलाई पड़े पर निम्नलिखित वाक्यों में जिस 'प्रत्यय' की ओर संकेत देने में वह समर्थ है, उसकी विभिन्नता का कोई भी हिंदी-भाषी अनुभव कर सकता है—

(1) शीला चल रही है। (2) दुकान चल रही है। (3) सिक्का चल गया। (4) हवा चल रही है। (5) साइकिल चल रही है। (6) मोटर, पेट्रोल से चलती है। (7) इस बात की हवा ऐसी चली कि....(8) शीला की शादी की बात चल रही हैं। (9) ऐसे अवसर पर उसकी बुद्धि चलती ही नहीं। (10) वह पढ़ाई में अच्छी चल रही है। (11) यहाँ पर यह शब्द चल जाएगा।(12) सिनेमा चल रहा है।....आदि।

अतः यह कहा जा सकता है कि तर्क-भाषा और काव्य-भाषा, दोनों ही प्रतीकों के 'सामान्य' अर्थ को 'विशेष' की ओर मोड़ते हैं पर जहाँ एक की विशिष्टता, सिद्धांत-बाधित है वहाँ दूसरे की संदर्भ-अनुप्राणित।

(9) कविता के 'विशिष्ट' एवं 'असामान्य' अर्थ को पकड़ने के लिए काव्य-भाषा एक 'विशिष्ट' शैली का प्रयोग करती है। 'विशिष्टता' को 'सामान्य' के अतिक्रम के रूप में ही परखना संभव है क्योंकि 'विशिष्ट' और 'सामान्य' सापेक्षिक प्रत्यय हैं और सामान्य का परिचय सहज-साध्य होता है। भाषा का सामान्य रूप बोलचाल की भाषा पर आधारित होता है अतः कविता की भाषा-शैली को सामान्य बोलचाल की भाषा की संघटना के अतिक्रम के रूप में ही देखना तर्क-सम्मत है।

अतिक्रम के कार्यफलन को प्रभाव-संचार सिद्धांत (communication theory) में प्रचलित दो परस्पर विरोधी प्रत्ययों—उद्रिक्तता (redundancy) और सूचना (information) के आधार पर समझा जा सकता है। सूचना-ग्रहण तभी संभव है जब कथन में संशय हो और संशय, विकल्प की अपेक्षा रखता है अर्थात् सूचना, चुनाव की क्षमता के अनुपात में सिद्ध रहती है। इसके विपरीत वे कथन उद्रिक्त माने जाते हैं जिसमें कथ्य, पूर्वज्ञान के संदर्भ में अनुमेय (predictable) होते हैं अर्थात् जिस कथन में अधिकतम सूचना होगी वहाँ न्यूनतम उद्रिक्तता मिलेगी और जहाँ अधिकतम उद्रिक्तता होती है उसमें न्यूनतम सूचना होगी।

उद्रिक्तता और सूचना जिन आधारों को जन्म देती हैं उनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

उद्रिक्तता	सूचना
1—निर्धारित व्यवस्थापरक नियम	1—नवरीति स्थापक नियम
2—ज्ञात	2—अज्ञात
3—साधारण (कथ्य)	3—मौलिक (कथ्य)
4—अनुमेय	4—संभाव्य
5—बुद्धिपरक	5—कल्पना प्रवण

दोनों—उद्रिक्तता और सूचना, की अतिशयता कथ्य को चित्तरंजक बनाने में अक्षम होती हैं। दोनों ही एक निश्चित पारस्परिक अनुपात के अभाव में ध्यान आकर्षित करने में असफल सिद्ध होती हैं। बोलचाल की सामान्य भाषा में दोनों ही पक्षों के अनुपात की एक निश्चित मात्रा-सीमा (range) होती है। तर्क-भाषा इस सीमा की तुलना में अधिक उद्रिक्त होती है और काव्य-भाषा अधिक सूचना संपन्न।

अरस्तू ने बहुत पहले कविता के आधारभूत तत्व के रूप में कविता की भाषा-शैली की विशिष्टता को सामान्य बोलचाल की भाषा के अतिक्रम के रूप में देखा है। प्राग-स्कूल ने इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है। लेविन (1958) तो इस अतिक्रम को कविता के बाह्य एवं आंतरिक, दोनों ही स्तर पर स्वीकार करते हैं। पर अतिक्रम के सिद्धांत को सही संदर्भ में न देखने के कारण प्रायः विद्वान् यह समझ बैठते हैं कि अतिक्रम का सिद्धांत भ्रामक है। वेलेक (1960) ने यह आपत्ति उठाई है कि 'भाषा-विज्ञान से अनुप्राणित शैली-विज्ञान मूलतः अपना ध्यान अतिक्रम-रूप पर केंद्रित करता है, वह 'नार्म' से हटे हुए विद्रूप रूप को ही महत्व देता है। इस प्रकार हम एक और प्रतिरूप व्याकरण का निर्माण करने लगते हैं जिसे अतिक्रम विज्ञान पर आधारित कहा जा सकता है। सामान्य शैलीविज्ञान व्याकरणाचार्यों के लिए और अतिक्रमिक शैलीविज्ञान साहित्य के विद्यार्थियों के लिए। लेकिन यह सामान्य तथ्य है कि सर्वाधिक ग्राह्य भाषा-रूप भी साहित्यिक संघटना का अंग बनता है।

काव्य-भाषा की सृजनशीलता और मौलिकता न तो निर्धारित व्यवस्थात्मक नियमों की अपेक्षा करती है और न अतिक्रमिक शैलीविज्ञान को ही जन्म देती है। यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिए कि ज्ञात का अवलंबन लिए बिना अज्ञात का, बुद्धिगम्य कथ्य के बिना कल्पना-प्रवण उक्ति का अथवा निर्धारित व्यवस्थापरक नियमों के अभाव में नवरीतिस्थापक नियमों का कोई मूल्य नहीं अर्थात् उद्रिक्तता के अभाव में सूचना का संप्रेषण संभव नहीं।

यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि अतिक्रम का संबंध नवरीतिस्थापक नियमों से है। नियमों से संबद्ध होने के कारण ये अतिक्रम भी नियमबद्ध होते हैं। उनको 'सामान्य' से हटा मनमाना एवं उच्छृंखल प्रयोग नहीं कहा जा सकता। साथ ही यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि नवरीतिस्थापक नियम, साहित्यिक शैली के नियम हैं अतः उन्हें सामान्य भाषा के निर्धारित व्यवस्थात्मक नियमों के संदर्भ के साथ-साथ साहित्यिक भाषा के परंपरा-अनुमोदित निर्धारित नियमों के संदर्भ में भी देखना चाहिए। इस स्थिति में बहुत संभव है कि साहित्यिक परंपरा-अनुमोदित व्यवस्थात्मक नियम, सामान्य भाषा के 'नाम' के अतिक्रम का परिणाम हो और नवरीतिस्थापक नियम, पूर्ववर्ती साहित्यिक परंपरा के नियमों का तो अतिक्रम करते हों पर भाषा के 'नार्म' के अधिक समीप हों। उदाहरण के लिए द्विवेदी युग की हिंदी कविता के संदर्भ में छायावादी कविता सामान्य भाषा के नियमों का अतिक्रमण करती दिखाई पड़ती पर छायावादी कविता की तुलना में प्रगतिवादी कविता जिन नवरीतिस्थापक नियमों को जन्म देती है, वे सामान्य भाषा के 'नार्म' के अधिक समीप हैं। इसी प्रकार 'प्रयोग-वादी' कविता, अभिव्यक्ति के धरातल पर जिन नवरीतिस्थापक नियमों के अन्वेषण एवं स्थापना की बात उठाती है वे एक बार फिर 'छायावादी' प्रयोगों की याद दिलाते हैं पर उसकी तुलना में जब 'नयी कविता' की अभिव्यक्ति-प्रणाली पर ध्यान देते हैं तब उसे फिर सामान्य भाषा के 'नार्म' के अधिक निकट पाते हैं।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र के जिन आचार्यों ने 'काव्यात्मकता' को लक्षण (गुण) के रूप में मान कर 'कविता' के भीतर ही उसकी सत्ता को स्वीकार किया है, उन्होंने साहित्य की एक ओर वस्तुवादी व्याख्या प्रस्तुत की है और दूसरी ओर उसे (संस्कृत भाषा के) व्याकरण के संदर्भ में ही परखने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए पाँच अधिकरण अध्यायों में विभक्त 'वामन' का 'काव्यालंकार-सूत्र' संस्कृत व्याकरण पर आधारित काव्य-समीक्षा का अनूठा उदाहरण है। 'वामन' के अनुसार काव्य की आत्मा रीति है—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। रीति का अर्थ है विशिष्ट पद-रचना—'विशिष्टा पदरचना रीतिः' पद-रचना की विशिष्टता ही गुण (काव्य लक्षणों) का जनक है—'विशेषो गुणात्मा', क्योंकि गुण का अर्थ ही है काव्य शोभाकारक शब्द-अर्थ की अन्विति।

इसी प्रकार 'काव्यालंकार' के प्रणेता 'भामह' 'वक्रोक्ति' को काव्य का प्राण मानते हैं। वक्रोक्ति से तात्पर्य है अर्थ और शब्द की वक्रता—'वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते'। यह वक्रता वस्तुतः सामान्य कथन के अतिक्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट लिखा है—'शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्'। काव्य-सौंदर्य की व्याप्ति हो इस 'वक्रोक्ति' पर आधारित है—'कोऽलंकारोऽनया विना'। 'कुन्तक' ने इसी वक्रोक्ति की स्थापना करते हुए इसे सर्वग्राही रूप प्रदान किया है जहाँ वक्रोक्ति को 'शास्त्र आदि में उपनिबंध शब्द-अर्थ के प्रसिद्ध प्रयोग से भिन्न' और 'व्यवहार सरणि का अतिक्रमण करने वाली' कहा है।

\+ \+ \+ \+

इसमें संदेह नहीं कि भारतीय काव्य-शास्त्र की मूल प्रकृति भाषावादी रही है। वह कृति को केंद्र में रखकर उसकी भाषिक संघटना के अध्ययन के आधार पर कलात्मकता का पता लगाने के पक्ष में रही है। कृतिकार और कृति के बाहर का संसार कभी भी उसकी आलोच्य सामग्री नहीं बने। संस्कृत काव्य-शास्त्र की इस वस्तुवादी परंपरा को परवर्ती हिंदी समीक्षकों ने साहित्येतर बना दिया। संस्कृत काव्य-शास्त्र के ऊपर निर्णय देते समय उन्होंने अपनी धूमिल और अधूरी दृष्टि का परिचय अधिक दिया है और काव्य-शास्त्र के मूल उपादानों और उसकी काव्य-दृष्टि को उचित संदर्भ कम ही प्रदान किया है। इसमें संदेह नहीं कि 'संस्कृत काव्य-शास्त्र का मूलाधार शब्द और अर्थ है और उसमें भी चाहे अलंकार-विधान हो, लक्षणा-व्यंजना का प्रयोग हो, गुणों के अंतर्गत वर्ण-व्यवस्था पर विचार हो अथवा रस-प्रक्रिया को ग्रहण करने की बात हो, चिंतन की दृष्टि शब्द-प्रयोग पर ही केंद्रित रहती है। (रघुवंश, 1967:59)

विद्यानिवास मिश्र का कथन सारगर्भित है कि न केवल भारतीय चिंतन मूलतः वाक्केंद्रित चिंतन है अपितु भारतीय साहित्य-शास्त्र की पीठिका भी वाक् है। "ऋग्वेद

से ही वाग्व्यापार को सृष्टि के पर्याय के रूप में देखा गया और वाक् के ही तीन स्तरों के रूप में द्युलोक, अंतरिक्ष और पृथ्वी की कल्पना की गयी, वाक् की परिशुद्धि पर बल दिया गया, क्योंकि परिशुद्ध वाक् में ही कल्याण का निधान है ।....वाक् की भीतरी खोज ही मंत्र-साधना का पर्याय बनी ।....इसीलिए व्याकरण को वेद का मुख कहा गया है । दूसरे शब्दों में भारत की विवर्तमान ज्ञानराशि के भीतर पैठना है, तो यह केवल व्याकरण के आकार से संभव है ।...यहाँ तक कि भारतीय काव्य को भी यथावत् समग्र रूप में तभी ग्रहण किया जा सकता है, जब उसकी बीजभूत भावना के इन नानाविधि प्रत्ययों के साथ नाना विध आकार ग्रहण किए जाते हुए भी उसमें एक अखंड एकवाक्यता ग्रहण की जाए । भारतीय काव्य-शास्त्र ने इसीलिए काव्यार्थ की खोज में बुधो (वैयाकरणों) की स्फोटवादी सरणि अपनाई है ।'' संस्कृत की यह भाषावादी चिंतन-दृष्टि, हमारी साहित्य समीक्षा की परंपरित दृष्टि है ।

शैलीविज्ञान के मूलाधार में कलाबोध की यही वाक् पीठिका है जहाँ 'काव्यार्थ प्रत्यक्ष शब्द व्यापार समर्पित है ।' यद्यपि 'शैलीविज्ञान' और 'नयी समीक्षा' के सिद्धांत और प्रणाली एक नहीं परंतु साहित्य शास्त्र के इस वस्तुनिष्ठ एवं रूपवादी चिंतन और भाषावादी दृष्टि को दोनों ही समान रूप से अपनाते हैं । डा० नगेन्द्र (1970: 57-8) का यह आक्षेप कि 'शब्द-अर्थ के कुशल प्रयोग से उत्पन्न चमत्कार को ही यदि काव्य का प्रयोजन मान लिया जाए तो काव्य का महात्म्य सीमित हो जाएगा', अथवा 'शब्द-विधान की स्वतंत्र और भौतिक सत्ता स्वीकार कर लेने से चमत्कार को काव्य में अत्यधिक महत्व प्राप्त हो गया है ।' युक्तिसंगत इसलिए नहीं प्रतीत होता क्योंकि इन वक्तव्यों द्वारा भारतीय काव्य-शास्त्र की परंपरित दृष्टि को अकारण ही नकारा गया है । 'नयी समीक्षा में सिद्धांत का महत्व न होकर प्रविधि क महत्व है' और शैलीविज्ञान अथवा नयी समीक्षा 'कविता का सिद्धांत-विवेचन न होकर पाठ-विश्लेषण या अर्थ-मीमांसा है'—डा० नगेन्द्र की लेखनी से निसृत ऐसी उक्तियाँ वस्तुतः नयी समीक्षा के पूरे ऐतिहासिक दायित्व, उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि और चिंतन-सरणि के प्रति उनके उपेक्षा-भाव को ही व्यक्त करता है । नयी समीक्षा को भारतीय टीका-पद्धति के साथ जोड़ कर देखने का आग्रह इसी तथ्य की ओर संकेत देता है कि डा० नगेन्द्र ऐसे सुधी आलोचक भी काव्य-विश्लेषण और काव्य-मूल्यांकन अथवा कविता और काव्य-फलन की सूक्ष्म विभाजक रेखा को ठीक से पकड़ने में असमर्थ हैं ।

कहने का तात्पर्य यह है कि शैली-विज्ञान भी कविता को पहले कविता के रूप में ग्रहण करता है वह भी यह मानता है कि 'कविता' सूखे काठ की चीज नहीं है, मानव-मन के मोम की अंतर्दीप्त प्रतिमा है जो उसके विविध अनुभवों की आँच में पिघल कर नाना रूप धारण करती रहती है । 'शैलीविज्ञान इस तथ्य का 'कदापि विरोध नहीं करता कि कविता के एक पक्ष का संबंध 'अबौद्धिक कथ्य' और

'भावजगत की जीवन-दृष्टि' के साथ बना रहता है। पर इन सबकी स्वीकृति के पश्चात् भी उसकी यह मान्यता बनी रहती है कि 'अबौद्धिक कथ्य' तक भाषा का अवलंबन लेकर ही पहुँचना संभव है, 'मानव-मन के मोम की अंतर्दीप्त प्रतिमा' का निर्माण कवि जिस अपने संस्कार और प्रातिभ ज्ञान के बल पर अनायास कर लेता है उसको समझने और पाने का मार्ग शब्द और उसमें निहित अर्थ का ही है। शैली-विज्ञान 'अबौद्धिक कथ्य' और 'अंतर्दीप्त प्रतिमा' का ही अध्ययन प्रस्तुत करता है पर उसका संबंध वह शब्द-अर्थ व्यापार से जोड़कर देखने के पक्ष में है, यह देखने के लिए कि शाब्दिक प्रत्यय रूपांतंरण किन स्थितियों में और किन उपकरणों द्वारा 'अबौद्धिक कथ्य' में रूपांतरित होकर 'अंतर्दीप्त प्रतिमा' के निर्माण का कारण बन जाता है।

+ + +

वाक्य-संरचना के धरातल को तीन स्तरों पर विश्लेषित किया जा सकता है :

(अ) अंतर वाक्य और पैराग्राफ़ स्तर।

(आ) उपवाक्य और वाक्य स्तर

(इ) शब्द और पद-बंध स्तर

उदाहरण के लिए 'अनागत' कविता में आए इस बिंब को ही लें—**"फूल जैसे अँधेरे में दूर से ही चीखता हो। इस रह वह दरपनों में कौंध जाता है।"** सृजनात्मक प्रक्रिया के संदर्भ में 'अनागत' की व्याख्या दूसरे व्याख्यान में की जा चुकी है ' यहाँ बिंब-रूप के विश्लेषण के लिए इस कविता के एक अंश की भाषिक संरचना और उस संरचना के आधार पर बिंब से उत्पन्न अतिरिक्ति अर्थ की विवेचना को लक्ष्य में रखा गया है।

1. आज-कल ठहरा नहीं जाता कहीं भी ;
2. हर घड़ी, हर वक्त खटका लगा रहता है।
3. कौन जाने कब, कहाँ वह दीख जाए।
4. हर नवागन्तुक उसी की तरह लगता है।
5. फूल जैसे अंधेरे में दूर से ही चीखता हो ;
6. इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है।

वाक्य और शब्दों का परस्पर सबंध बताने वाले विराम चिह्नों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि छः पंक्तियों के इस काव्यांश में चार वाक्य हैं और दो उपवाक्य (क्योंकि दो बार अर्द्ध-विराम आया है और चार बार पूर्ण विराम।) पर अगर ध्यान से देखा जाए तो इसमें केवल दो वाक्य हैं तथा यदि समानाधिकरण सम्मुच्चयबोधक (coordinate) 'और' द्वारा निर्मित उपवाक्यों को छोड़ दें तो इसमें

सात प्रमुख उपवाक्य हैं। (देखिये तालिका 6) वैसे समुच्चयबोधक 'और' का काव्यपाठ में लोप है पर उसका संकेत अल्प-विराम चिह्न द्वारा मिल जाता है। पंक्ति 2 और 3 में 'हरघड़ी, हर वक्त' तथा 'कौन जाने कब, कहाँ' के अल्प-विराम का कार्यफलन वस्तुतः 'और' का समानधर्मी है।

1. ||| आज-कल । ठहरा नहीं जाता । कहीं { भी ||
2. [हर घड़ी । हर वक्त । खटका । लगा रहता है] ||
3. कौन जाने || [कब । कहाँ । वह । दीख जाए] ||
4. [हर {नव} (अ) आगन्तुक । उसी की तरह । लगता है] |||
5. [फूल । जैसे । अंधेरे में । दूर से {ही । चीखता हो] ||
6. इस तरह । वह । दरपनों में । कौंध {जाता है |||

||| –वाक्य-विराम (sentence boundary)
|| –उपवाक्य विराम (clause boundary)
| –पदबंध विराम (group boundary)
{ –उपपदबंध विराम (sub-group boundary)
[ ]–आश्रित उपवाक्य (subordinate clause)

तालिका 6

ध्यान देने की बात है कि जिस प्रकार इस काव्यांश में समानाधिकरण समुच्चय-बोधक अव्यय 'और' का लोप है उसी प्रकार पहले वाक्य के उपवाक्यों के बीच संबंध स्थापन करने वाले व्याधिकरणिक समुच्चयबोधक अव्ययों का भी लोप है। काव्योक्तियों को संक्षिप्त और सघन बनाने के निमित्त विधेय पूरक कर्म का भी लोप किया गया है। पहली चार पंक्तियों तक फैले पहले वाक्य में उपवाक्यों को जोड़ने वाले लुप्त समुच्चयबोधक अव्ययों एवं विधेयपूरक कर्म को साथ रखकर काव्यांश को नीचे दी गई रीति से पढ़ना संभव है। (लुप्त अंशों को कोष्ठक में रखा गया है।)

1. ||| आजकल ठहरा नहीं जाता कहीं भी ||
2. (क्योंकि) हर घड़ी (और) हर वक्त (यह) खटका लगा रहता है ||
3. [[(कि) कौन जाने]] (कि) कब (और) कहाँ वह दीख जाए ||
4. (क्योंकि) हर नवागन्तुक उसी की तरह लगता है |||

तालिका 6 में दिए गए उपवाक्य विराम चिह्नों (||) पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि पूरे काव्यांश में सात उपवाक्य हैं। पंक्ति 3 में दो उपवाक्य हैं—|| कौन जाने || और || कब, कहाँ वह दीख जाए || और अन्य पंक्तियों में पंक्ति के

प्रारंभ से अंत तक के पाँच उपवाक्य । सुविधा के लिए आगे चर्चा करते समय इन उपवाक्यों को पंक्ति-संख्या क्रम के अनुसार रखा गया है अर्थात् पहली पंक्ति का उपवाक्य, उपवाक्य 1 है और दूसरी पंक्ति का उपवाक्य 2 । तीसरी पंक्ति में दो उपवाक्य हैं, पहला उपवाक्य 3a और दूसरा 3b आदि । स्वतंत्र उपवाक्य को α और आश्रित उपवाक्य को β चिह्‌न से अंकित किया गया है । आश्रित उपवाक्य हमेशा समुच्चयबोधक शब्दों से संयुक्त होकर आते हैं पर काव्य-पाठ में जिन उपवाक्यों में इनका लोप है उन्हें $[-\beta]$ और जिनमें उनका लोप नहीं है उन्हें $[+\beta]$ द्वारा संकेतबद्ध किया गया है । इन सात उपवाक्यों की प्रकृति को तालिका 7 द्वारा समझा जा सकता है :

पंक्ति संख्या	उपवाक्य-रूप
1	α_1
2	$-\beta_2$
3	$\alpha_3 a, -\beta_3 b$
4	$-\beta_4$
5	$+\beta_5$
6	α_6

तालिका—7

उपवाक्यों की स्वतंत्र तथा आश्रित प्रकृति तथा उनके अंतस्संबंधों का तालिका 8 में दिए गए फार्मूले द्वारा व्यक्त करना संभव है :

$$\left\{ \begin{array}{c} \left\{ \begin{array}{l} [\,[\,[\alpha_1[-\beta_2]\;] \rightarrow [\;[\alpha_2[-\beta_3 b]\;] \rightarrow \\ [\,[\,[\alpha_3 a[-\beta_3 b]] \rightarrow [[\alpha_3 b[-\beta_4]\;] \rightarrow \end{array} \right\} \mathrm{I} \\ [\;[\alpha_6[+\beta_5]\;]\mathrm{II} \end{array} \right\}$$

तालिका—8

पहला उपवाक्य ।। आजकल ठहरा नहीं जाता कहीं भी ।। स्वतंत्र उपवाक्य $[\alpha_1]$ है । इस स्वतंत्र उपवाक्य के आश्रित है दूसरा उपवाक्य ।। हर घड़ी, हर वक्त खटका लगा रहता है ।। जिसमें समुच्चयबोधक शब्द 'क्योंकि' का लोप है $[-\beta_2]$ । पर ध्यान देने की बात है कि दूसरा उपवाक्य, पहले उपवाक्य के संदर्भ में तो आश्रित है पर जब हम उसे उपवाक्य 3b के साथ जोड़कर देखते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि वह (दूसरा उपवाक्य) प्रमुख है और उपवाक्य 3b उसका आश्रित अर्थात् 3b ।। (कि) कब, कहाँ वह दीख जाए ।। वस्तुतः उपवाक्य 2 के विधेयपूरक कर्म (यह) [जो लुप्त है] का विस्तार है । उपवाक्य 3b, उपवाक्य 3a का भी आश्रित है । पर

उपवाक्य 4 के साथ जोड़कर देखने पर उपवाक्य 3b प्रधान और उपवाक्य 4 आश्रित ठहरता है क्योंकि उपवाक्य कारणवाचक समुच्चय बोधक 'क्योंकि' (जो लुप्त है) के साथ जुड़ा है।

उपवाक्य 3a ।। कौन जाने ।। को उपवाक्य 2 का आश्रित उपवाक्य भी स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार उपवाक्य 5 ।। फूल जैसे अँधेरे में दूर से ही चीखता हो ।। की व्याख्या एक और रीति से भी संभव है। यह कहा जा सकता है कि इस उपवाक्य के मूल में दो उपवाक्य हैं जो योजक शब्द 'और' से संयुक्त हैं पर जिसका अध्याहार कर दिया गया है।

5a फूल जैसे अँधेरे में ही चीखता हो

5b फूल जैसे दूर से ही चीखता हो।

जो रूपांतरण के पहले स्तर पर 'फूल जैसे अँधेरे में ही चीखता हो और दूर से ही चीखता हो' और फिर अंतिम अभिव्यक्त रूप में 'फूल जैसे अँधेरे में दूर से ही चीखता हो' उपवाक्य के रूप में व्यक्त हुआ है। उस स्थिति में उपवाक्यों के अंतस्संबंधों की प्रकृति तालिका 8(a) की भाँति होगी :

$$\left\{ \begin{array}{l} \left\{ \begin{array}{l} [\ [\ \alpha_1\ [-\beta_2]\ ] \rightarrow [\ [\ \alpha_2\ [-\beta_3 a\ ]\ ] \rightarrow \\ [\ [\alpha_3 a[-\beta_3 b]\ ] \rightarrow [\ [\ \alpha_3 b\ [-\beta_4\ ]\ ] \end{array} \right\} I \\ \quad [\ [\alpha_6] + \beta_5 a, + \beta_5 b]\ ]\ II \end{array} \right\}$$

तालिका—8 (a)

अगर पदबंध स्तर पर विश्लेषण करें तो विभिन्न उपवाक्यों की संरचना तालिका 9 में संकेतिक पदबंधों के रूप में सामने आती है :

1. ।।। At । P । Al { Li ।।
2. At । At । S । P ।।
3. S [A ?] । P । । At ? । Al ? । S । P ।।
4. S [C1+2+N] । Cp । P ।।।
5. ।।। S । Ab । Al । Al {Le । P ।।

OR

$$|||\ \left\{ \begin{array}{l} S\ |\ Ab\ |\ Al\ \{\ Le\ |\ P \\ S\ |\ Ab\ |\ Al\ \{\ Le\ |\ P \end{array} \right\} \begin{array}{l} a \\ b \end{array} ||$$

6. Ab । S । Al । P ।।।

S=(Subject) उद्देश्य

P=(Predicate) विधेय

C=(Complement) विशेषण

Ab=(Binding adjunct)	समुच्चयबोधक
Al=(Locative adjunct)	स्थानवाचक क्रिया-विशेषण
At=(Temporal adjunct)	कालवाचक क्रिया-विशेषण
A?=(Interrogative adjunct)	प्रश्नवाचक
Li=(Limiter-inclusive)	सीमक-अंतर्गणित
Le=(Limiter-exclusive)	सीमक-व्यावर्तक
Cp=(Comparator-qualifier)	तुलनापरक-गुणक

तालिका—9

पहले उपवाक्य 2, 3b और 4 में उद्देश्य रूप में कर्ता का प्रयोग है पर इन सभी स्थितियों में ये व्याकरणिक (grammatical) कर्ता ही है मूल (logical) नहीं। मूल कर्ता (agent) और संप्रदान भोक्ता (dative) का अध्याहार है वैसे वाक्य-संरचना से उनका पता चल जाता है। कविता-पाठ के आंतरिक संवाद में दो व्यक्तित्व उभर कर सामने आते हैं, पहला, कवि-व्यक्तित्व और काव्य-चेतना को भोगने वाला 'हम' जो उत्तम पुरुष, बहुवचन के रूप में आता है और दूसरा, काव्य-चेतना को प्रतीकबद्ध करने वाला 'अनागत' जो अन्य पुरुष, एकवचन रूप में सामने आता है। ये दोनों व्यक्ति-रूप कविता के अंतिम वाक्य में अपना स्पष्ट रूप ग्रहण कर लेते हैं :

इस अनागत का करें क्या हम
कि जिसकी सीढ़ियों की ओर
बरबस खिंचे जाते है।

ध्यान देने की बात है कि इस अंतिम वाक्य में आए 'हम' को अगर छोड़ दें तो पूरी कविता में और कहीं भी स्पष्ट उल्लेख इसका नहीं मिलता। पर यह 'हम' व्याप्त सर्वत्र है और इसका पता क्रिया-रूप में संयुक्त वचन-पुरुष प्रत्यय द्वारा मिल जाता है। उदाहरण के लिए कविता के पहले वाक्य को ही लें :

इस अनागत को करें क्या ?–
जो कि अकसर बिना सोचे, बिना जाने
सड़क पर चलते अचानक दीख जाता है।

'करना' क्रिया में धातुरूप 'कर' के साथ संयुक्त प्रत्यय 'एं' यह स्पष्ट कर देता है कि कर्ता वस्तुत: बहुवचन-रूप है। पर पहली पंक्ति से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वह उत्तम अथवा अन्य पुरुष है। यहाँ विकल्प की स्थिति में रखा गया है जिसका समाहार अंतिम वाक्य के 'हम' शब्द द्वारा उत्तम पुरुष के पक्ष में हो जाता है।

पर चाहे कविता का पहला वाक्य लें या अंतिम, एक स्थिति सर्वत्र स्पष्ट है कि भोक्ताकवि हमेशा परवश, असहाय और विवश-सा है, और काव्य-पाठ में उसके कर्तृत्व-पक्ष को विभ्रम और संशय की भावना के साथ रखा गया है। पहले और अंतिम वाक्य का मूल कर्ता कवि-व्यक्तित्व 'हम' है पर क्रिया के अकर्मक रूप—'दीखना' अथवा 'खिचना' का प्रयोग करके इस कर्ता 'हम' को भोक्ता रूप में रखकर इसको काव्य-व्यापार के एक साधन रूप में ही व्यक्त किया गया है। इसके विपरीत मूल कर्म 'अनागत' को कर्तृत्व प्रदान करने की चेष्टा सर्वत्र है। कविता की अंतिम पंक्ति—'बरबस खिंचे जाते हैं' में 'हम' ही कर्ता-रूप में व्यक्त है पर उसकी परवशता को पुष्ट करने के लिए 'बरबस' शब्द का सार्थक प्रयोग है। मूल स्तर पर 'हम' एक विवश भोक्ता है जो 'खिंच जाता है' और इसको 'सीटियों की आवाज' से पराभूत कर खींचने वाला 'अनागत' है।

उपर्युक्त विवेचन के संदर्भ में कविता-पाठ के उस अंश पर ध्यान दें जो तालिका 6 में उद्धृत है। पहला उपवाक्य ।। आजकल ठहरा नहीं जाता कहीं भी ।।, कर्मवाच्य में है और इसमें क्रिया के मूल कर्ता 'हम' का अध्याहार है। कौन नहीं ठहरता ? निश्चय ही 'हम' क्रिया के मूल रूप 'ठहरना' का कर्म-वाच्य में प्रयोग 'ठहरा नहीं जाता', कर्ता के अशक्यतावाचक प्रयोग को व्यक्त करता है जो एक ओर कर्ता को कारण-रूप प्रदान करता है और दूसरी ओर इस करण-रूप 'हमसे' (ठहरा नहीं जाता) में अशक्यता और असमर्थता का भाव व्यंजित करता है। उपवाक्य 2 और 4 में जिस क्रिया (लगना) का प्रयोग है वह अनभिव्यक्त 'हम' को भोक्ता (संप्रदान) रूप में ही सामने लाता है—'हर घड़ी, हर वक्त, (किसको) खटका लगा रहता है ?', उत्तर होगा—'हमको'। अथवा 'हर नवागंतुक, (किसको) उसी की तरह लगता है ?' निश्चय ही उत्तर होगा—'हमको'। इसी प्रकार हम उपवाक्य 3b को लें तो इसकी वाक्य-संरचना के रूप को 'कर्म-कर्तृक' रूप में पाते हैं अर्थात् मूल सकर्मक क्रिया 'देखना' के व्युत्पन्न रूप 'दीखना' का प्रयोग करके मूल कर्म 'वह (अनागत)' को कर्तृत्व प्रदान किया गया है और मूल कर्ता 'हम' को एक ओर भोक्ता-प्रकृति प्रदान की गई है और दूसरी ओर उसका अध्याहार भी कर दिया गया है।

अगर कविता के इस अंश के दूसरे वाक्य अर्थात् उपवाक्य 5 और 6 को लें तो हम पाते हैं कि इसमें 'भोक्ता' **हम** का प्रयोग न तो व्याकरणिक रूप में ही है और न मूल स्तर पर ही वह प्रत्यक्ष हो पाता है। उपवाक्य 5 में 'चीखने वाला' फूल है और उपवाक्य 6 में 'कौंधनेवाला' वह (अनागत) है। इनमें उपवाक्य 6 प्रधान उपवाक्य है अतः विवेचना के लिए इसी को प्रारंभिक बिंदु मानकर यह देखना उचित होगा कि भोक्ता 'हम' का बोध क्या इसमें किसी प्रकार से नहीं होता ?

मूल प्रश्न को कवि ने उपवाक्य 3b में स्पष्ट एवं सटीक रूप में सामने रख दिया है—।। कब, कहाँ वह दीख जाए ।। अर्थात् प्रश्न, 'अनागत' के दीखने का तो

है ही पर बल है समयवाचक 'कब' और स्थानवाचक 'कहाँ' के विधेय-विस्तारक पक्ष पर। इसका उत्तर उपवाक्य 1 और 2 से मिल जाता है।

क्रम	उपवाक्य	विधेय	विधेय-विस्तारक प्रश्न	उत्तर
1	3b	दीख जाए।	i कहाँ ? ii कब ?	
2	1	ठहरा नहीं जाता।	i कहाँ ? ii कब ?	कहीं भी आजकल
3	2	(खटका) लगा रहता है।	i कहाँ ? ii कब ?	(मन में) हर घड़ी, हरवक्त

'लगना' क्रिया हमेशा भोक्ता-मन की अपेक्षा रखती है अतः उपवाक्य 2 और 4 में 'किसको' का उत्तर 'हम' है और वह 'किसको' के साथ जुड़कर स्थानवाचक विधेयविस्तारक के रूप में 'हमारे मन में' का बोध कराता है। उपवाक्य 6 में एक ही स्थानवाचक विधेय विस्तारक है—'दरपनों में'। स्वभावतः संरचना के आधार पर 'दरपनों में', '(हमारे) मन में' का समानधर्मी ठहरता है और इस प्रकार लाक्षणिकता को जन्म देकर कवि व्यक्तित्व रूपी 'हम' के 'मन में' ढल जाता है।

जहाँ तक 'कब' प्रश्न का संबंध है, पहले और दूसरे वाक्य में इसके उत्तर की प्रकृति भिन्न है। पहले वाक्य में क्रिया-व्यापार के काल-पक्ष का विस्तार है, वह 'हरघड़ी और हरवक्त' को लेकर चलता है। साथ ही 'खटका' लगने के भाव में एक सातत्य पक्ष है जो 'रहना' रंजक-क्रिया और उसके अपूर्ण पक्ष के –त– प्रत्यय से व्यंजित किया गया है। वाक्य 2 में जो क्रिया ली गई है उसको काल-बोध के धरातल पर क्षणिक और तात्कालिक भाव से संयुक्त किया गया है। 'कौंध' क्रिया-शब्द में अर्थस्तर पर 'झलक' मारने का भाव तो है ही, रंजक-तत्व—'जाता' के योग से व्यापार-दर्शन में शीघ्रता भी लाई गई है। यह क्रिया भी अपूर्ण पक्ष के प्रत्यय –त– से संयुक्त है पर यह मात्र आवृत्ति एवं स्वभाव-प्रकृति का सूचक है, न कि क्रिया-व्यापार के सातत्य पक्ष का द्योतक।

काव्य-बिंब का निर्माण करने वाला वाक्य II कई स्तरों पर वाक्य I की तुलना में विशिष्ट है। यह विशिष्टता दोनों वाक्यों की भाषा-संरचना के अंतर का ही परिणाम है। अगर वाक्य I की उपवाक्य-संघटना की तुलना, वाक्य II की संघटना के साथ करें तो उनमें निम्नलिखित अंतर पाते हैं :

वाक्य I	वाक्य II
1. आश्रित उपवाक्य क्रम में प्रधान उपवाक्य के परवर्ती है अर्थात् सभी स्थितियों में (α) की संख्या, (β) की संख्या की तुलना में कम है। [देखिये, तालिका 8 (a).]	1. आश्रित उपवाक्य, क्रम में प्रधान उपवाक्य का पूर्ववर्ती है।
2. आश्रित उपवाक्य, समुच्चय बोधक शब्दों से रहित है अर्थात् (β) की प्रकृति सर्वत्र (—β) है।	2. आश्रित उपवाक्य, समुच्चयबोधक शब्दों से संयुक्त है अतः (β) की प्रकृति (+β) है।
3. समानाधिकरणिक (coordinative) व्याधिकरणिक (subordinative), दोनों ही प्रकार के समुच्चयबोधक शब्दों एवं संरचना का प्रयोग है यद्यपि दोनों ही प्रकार की संरचना के योजक-शब्दों का अध्याहार है।	3. अध्याहार केवल समानाधिकरणिक योजक शब्दों का ही है।
4. व्याधिकरणिक उपवाक्यों की प्रकृति या तो उद्देश्यवाचक है अथवा कारणवाचक।	4. व्याधिकरणिक उपवाक्यों की प्रकृति स्वरूपवाचक एवं रीतिवाचक है।
5. संरचना, कर्मप्रधान है और उपवाक्य या तो कर्मवाच्य (passive) है या उनमें कर्मणि प्रयोग है।	5. संरचना, कर्तृ-प्रधान है।
6. क्रिया के मूल कर्ता अथवा उसके मूल भोक्ता का लोप है।	6. क्रिया का मूल कर्ता, व्याकरणिक रूप में विद्यमान है।
7. (a) समय वाचक विधेय विस्तारक शब्द (At) अलग से	7. (a) समयवाचक शब्दों का अलग से प्रयोग नहीं है पर उसका

प्रयुक्त है ।	बोध, क्रिया के शाब्दिक (lexical) अर्थ के भीतर ही अंतर्भुक्त है ।
(b) क्रिया-व्यापार का काल-बोध, पक्ष (aspect) के स्तर पर आवृत्तिमूलक तथा सातत्यपरक (durative) है ।	(b) क्रिया-व्यापार का काल-बोध आवृत्तिमूलक होने के कारण 'कर्ता' के स्वभाव को व्यंजित करता है । रंजक-तत्व से संयुक्त होकर वह क्रिया-व्यापार की क्षणिकता एवं शीघ्रतापरक भाव को भी व्यक्त करता है ।
8. स्थानवाचक विधेय विस्तारक शब्द (Al), सार्वनामिक, अनिश्चित तथा 'भी' सीमक से संयुक्त होकर अंतर्गणित (inclusive) है अर्थात् वह $\begin{pmatrix} +\text{pronoun} \\ +\text{indefinite} \\ +\text{inclusive} \end{pmatrix}$ लक्षणों से संयुक्त है	8. स्थानवाचक विधेय विस्तारक, संज्ञा-रूप और व्यावर्तक है अर्थात् वह $\begin{bmatrix} +\text{noun} \\ +\text{exclusive} \end{bmatrix}$ लक्षणों से संयुक्त है ।

II { 5—'फूल जैसे अंधेरे में दूर से ही चीखता हो ;
6—-इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है ।'

वाक्य II के रूप में अभिव्यक्त इस बिंब की संरचना को पहले दी गई बिंब की परिभाषा के संदर्भ में देखना अनुचित न होगा । बिंब की दी गई परिभाषा पर ध्यान देने से निम्नलिखित तथ्य उभरकर विशेषकर सामने आते हैं :

(1) उसमें दो या दो से अधिक कथ्य (उपवाक्य या पदबंध) हों ;

(2) वाक्य संरचना के धरातल पर इन उपवाक्यों अथवा पदबंधों में समता हो ;

(3) अर्थ के धरातल पर इन कथ्यों में विभिन्नता हो ;

(4) उपवाक्यों एवं पदबंधों के कथ्य एक संश्लिष्ट रूप में प्रत्यक्ष होने की क्षमता रखते हों अर्थात् अर्थपरक लक्षण (Semantic Features), प्रक्षेपण (Project) द्वारा उपवाक्यों एवं पदबंधों के अभिप्रार्थ को प्रभावित कर उनमें गुणात्मक परिवर्तन लाने में सक्षम हों ।

(1+2) वाक्य-संरचना के संदर्भ में यह दिखलाया जा चुका है कि वाक्य II में मुख्यतः दो उपवाक्य हैं—5 और 6 जो रीतिवाचक व्याधिकरणिक समुच्चय-बोधक शब्दों (Ab) से जुड़े हैं ।

5. ।।। S । Ab । Al । Al । {Le । P ।।

6. Ab । S । Al । P ।।।

ऊपर से देखने पर उपवाक्य 5 में पाँच पदबंध दीखते हैं और उपवाक्य 6 में केवल चार । क्रम के रूप में पहले उपवाक्य में S । Ab.... है और दूसरे में Ab । S....। पदबंधों के विश्लेषण के समय यह भी संकेत दिया जा चुका है कि वस्तुतः उपवाक्य 5, दो समानांतर मूल उपवाक्यों का अभिव्यक्त रूप है अर्थात्

5. ।।। S । Ab । Al । Al { Le । P ।।

को निम्नलिखित 5(a) और 5(b) का संयुक्त अभिव्यक्त रूप मानना अधिक तर्क-संगत है ।

5a. ।। S ।। Ab । Al {Le । P ।। →

b. S । Ab । Al {Le । P ।।

कहने का तात्पर्य यह है कि उपवाक्य 5 की मूल प्रकृति ।।। S । Ab । Al । Al { Le । P ।। न होकर वस्तुतः चार पदबंधों से युक्त एक संश्लिष्ट उपवाक्य ।।। S । Ab । $\begin{Bmatrix} \text{Al} \\ \text{Al} \end{Bmatrix}$ { Le । P ।। के रूप में है जो अपनी संख्या और पदबंधों की रूप-प्रकृति में उपवाक्य 6 के सामानांतर हैं ।

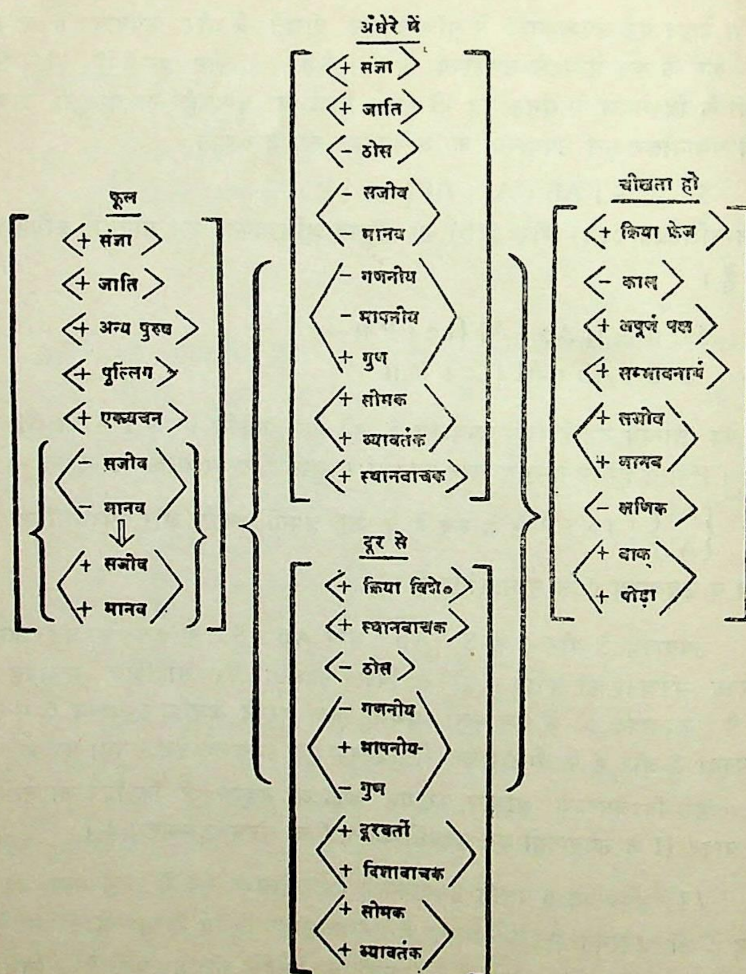
उपवाक्य 5 और 6 के S । Ab .. और Ab । S....के क्रम का अंतर वस्तुतः उपवाक्य संरचना का अंतर न होकर विशेष पदबंधों पर सापेक्षिक बलाग्रह का प्रश्न है । उपवाक्य 5 में बल कर्ता अर्थात् 'फूल' पर है जबकि उपवाक्य 6 में दोनों उपवाक्यों 5 और 6 के बीच स्थित रीतिवाचक एवं स्वरूपवाचक समता पर ।

इस विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बिंब को जन्म देने वाले वाक्य II के उपवाक्यों एवं पदबंधों की भाषिक संरचना समरूप है ।

(3) उपवाक्य 6 प्रधान उपवाक्य है । उद्देश्य के रूप में इसमें शब्द 'वह' का प्रयोग है जो 'अनागत' का सर्वनामरूप है । स्थानसूचक विधेय विस्तारक 'दरपन' है जो लाक्षणिक रूप में 'मन' का प्रतीक है (इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है) । विधेय के रूप में 'कौंध जाता है' पदबंध में '$\sqrt{\text{कौंध}}$' प्रधान क्रिया है जिसकी प्रकृति कोशीय (lexical) है, 'जाता'' रंजक क्रिया है जिसमें '$\sqrt{\text{जा}}$—' शीघ्रता सूचक है, '—त—' अपूर्ण पक्ष का प्रत्यय है और [—(अ)T], वचन-लिंग प्रत्यय है; 'है' वर्तमान काल सूचक शब्द है जो वचन-पुरुष प्रत्यय से संयुक्त है ।

व्याकरणिक एवं अर्थपरक लक्षणों (Features) के समूह के रूप में उपवाक्य 5 और 6 को आगे के पृष्ठ में दिया जा रहा है :

5. फूल जैसे {अँधेरे में / दूर से} ही चीखता हो ;



ध्यान देने की बात है कि 'फूल' जो मूल रूप में ⟨-सजीव, -मानव⟩ है वह 'चीखने' की क्रिया के साथ अन्विति स्थापित करने के कारण ⟨+सजीव, +मानव⟩ में परिवर्तित हो जाता है। अर्थात् 'मानवीय गुणों' के आरोपण के फलस्वरूप 'फूल' का मानवीकरण हो जाता है।

6. इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है ।

वह

<+ संज्ञा>
<+ सर्वनाम>
<+ अन्य पुरुष>
<+ पुल्लिंग>
<− सजीव>
<+ एकवचन>

दरपनों में

<+ संज्ञा>
<+ जाति>
<+ स्थानवाचक>
<+ ठोस>
<− सजीव
− मानव>
<+ गणनीय
+ मापनीय
− गुण>
<+ बहुवचन>

कौंध जाता है

<+ क्रिया फ्रेज>
<+ काल
+ वर्तमान>
<+ अपूर्ण पक्ष>
<+ निश्चयार्थ>
<− सजीव>
<+ दृश्य>
<+ क्षणिक>

प्रधान उपवाक्य—'वह दरपनों में कौंध जाता है' है। अतः विश्लेषण और अर्थ-प्रक्षेपण की प्रक्रिया समझने के लिए आधार-बिंदु यह उपवाक्य ही बनेगा। इस उपवाक्य के कर्ता 'वह' को लें जो 'अनागत' का प्रतिनिधि व्याकरणिक रूप है। क्रिया के साथ जोड़कर देखने पर स्पष्ट है कि यद्यपि 'अनागत' मूलतः निर्जीव है पर 'कर्ता' होने के कारण न केवल उसमें कर्तृत्व भाव है अपितु उसमें <+क्षणिक> गुण है जो उसे बिजली के सदृश 'चपल' भी सिद्ध करता है। <+अपूर्ण पक्ष> से जुड़ने के फलस्वरूप यह 'चपलता', आवृत्तिमूलक होने के कारण उसके स्वभाव के रूप में सामने आती है। लेकिन कर्तृत्वप्रधान चपलता और आवृत्तिमूलक उसकी यह स्वभावजन्य वृत्ति, एक सजीव कर्ता की माँग करती है। आश्रित उपवाक्य के कर्ता 'फूल' के साथ अपना संबंध स्थापित कर 'वह' (अनागत) न केवल सजीवता की स्थिति को प्राप्त होता है अपितु वह 'मानवीय' गुणों से युक्त भी हो जाता है क्योंकि 'फूल', अपनी क्रिया से अन्विति स्थापित कर स्वयं <+सजीव +मानव> गुणों में रूपांतरित हो चुका है। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि आश्रित उपवाक्य का कर्ता 'फूल' अपने कुछ गुणों का प्रक्षेपण प्रधान उपवाक्य के कर्ता—'वह (अनागत)', में करता है।

स्थानवाचक पदबंध 'दरपनों में' को लें जो 'मन' का प्रतीक बनकर आया है। 'दरपन' में मन की भाँति वस्तु-भाव को प्रतिबिंबित करने का गुण है पर वह मन, दरपण की भाँति कोई ठोस वस्तु नहीं जिसको गिना (count) या मापा (measure)

जा सके । आश्रित उपवाक्य के स्थानवाचक पदबंध 'अँधेरे में' से संदर्भित होकर इस 'दरपन' की प्रकृति भी [+ठोस] (+concrete) से [—ठोस] और $\begin{bmatrix} +\text{गणनीय} \\ +\text{मापनीय} \\ -\text{गुण} \end{bmatrix}$ $\begin{bmatrix} +\text{count} \\ +\text{measurable} \\ -\text{quality} \end{bmatrix}$ से $\begin{bmatrix} -\text{गणनीय} \\ -\text{मापनीय} \\ +\text{गुण} \end{bmatrix}$ बन जाती है । कहने का तात्पर्य यह कि 'अनागत' बिजली की चपलता के साथ जिस दरपन में अपना प्रतिबिंब डालता है वह गुणवाचक है और अपनी प्रकृति में स्थूल (ठोस) न होकर सूक्ष्म है, जिसको स्थूल जगत के उपादान के सहारे न तो मापा जा सकता है और न जिसकी गणना ही संभव है । 'दरपन' की यह प्रकृति, मन के समान है । पर 'अँधेरे में' मूलतः गुणवाचक विशेषण पदबंध है जिसका स्थानवाचक पदबंध के रूप में कविता में प्रयोग है । अँधेरा, रात के संदर्भ में आकर 'अँधेरी रात' की तरह भी प्रयुक्त हो सकता है । उस स्थिति में इसका अर्थ 'अंधकारपूर्ण' भी हो सकता है जो 'मन' के संदर्भ में 'अज्ञात, अवचेतन' आदि विशेषण भाव का भी बोध कराता है । 'अँधेरा' अगर दरपन की भाँति ठोस है तो उससे अँधेरे का 'घनीभूत रूप' प्रत्यक्ष होता है और इसके साथ अगर 'दरपन', मन का प्रतीक है तो इससे 'घनीभूत अवचेतन मन' की ही व्यंजना निकलती है ।

इस 'घनीभूत अवचेतन मन' रूपी दर्पन में गुणात्मक परिवर्तन लाने का कार्य आश्रित उपवाक्य का एक और 'स्थानवाचक पदबंध' कर रहा है । 'दूर से ही', अपनी संरचना में 'दरपनों में' का समरूप है—इसकी ओर पहले संकेत दिया जा चुका है । यह ध्यान देने योग्य है कि 'दूर से ही, वस्तुतः क्रिया-विशेषण है, 'अँधेरे में' की तरह विशेषण नहीं । पर इसके साथ ही अर्थपरक लक्षण के अनुसार यह स्थान-संबंधी है । अर्थपरक लक्षण के अनुसार यह दिशावाचक है जो दूरवर्ती भाव को सामने लाता है । दिशावाचक रूप में 'दरपन' की भाँति यह विस्तार का बोधक न होकर वस्तु की गहराई (depth) के धरातल को सामने लाता है, साथ ही गणनीय न होने के बावजूद भी अर्थपरक लक्षण के अनुसार यह मापनीय है । कहने का तात्पर्य यह है कि मन रूपी दर्पण को फैलाव या विस्तार के धरातल पर नहीं अपितु गहराई और सघनता के धरातल पर मापने की ओर संकेत दे रहा है । अतः 'दूर से' पदबंध, 'दर्पन' पर जो अर्थ-प्रक्षेपण कर रहा है वह 'घनीभूत अवचेतन मन' में हो रहे 'अनागत' के क्रिया-व्यापार को मन की 'अतल गहराइयों' में उतार डालता है ।

'अँधेरे में' क्रिया-व्यापार के स्थान को केंद्रीभूत करता है, वह 'अनागत' की स्थिति को स्थान-केंद्रित (localize) कर 'दर्पण' के अर्थ को 'अवचेतन मन' से बाँधता है और 'दूर से' पदबंध अर्थ-प्रक्षेपण कर इस 'अवचेतन मन' को गहराई (depth) से संयुक्त कर अनागत के संपूर्ण क्रिया-कलाप को दूरवर्ती सिद्ध करता है । ये दोनों पदबंध

'अँधेरे में' और 'दूर से', व्यावर्तक सीमक (exclusive limiter) 'ही' से संयुक्त होकर अपना बलाग्रह रखते हुए यह अर्थ भी ध्वनित करते हैं कि अनागत का क्रिया-व्यापार केवल 'अवचेतन मन' की 'अतल गहराइयों' में ही चलना संभव है।

आश्रित उपवाक्य का 'विधेय'—। चीखता हो । भी प्रधान उपवाक्य के विधेय पदबंध । कौंध जाता है । पर अपना सार्थक अर्थ-प्रक्षेपण करता है। 'कौंधना' क्रिया अर्थपरक लक्षण के अनुसार दृश्यपरक (visual) भाव को लिए हुए है। 'चीखना', संवेदना के एक अन्य धरातल 'वाणी' (vocal) से व्यापार को जोड़कर उसे बहुस्तरीय (multi-dimensional) बनाती है। 'चीख' मनुष्य जाति की अपेक्षा रखती है अतः 'कौंधने' के निर्जीव व्यापार में वह मानवोचित गुणों का प्रक्षेपण भी करती है। कौंध जाता है । का √जा रंजक तत्व है जो क्रिया-व्यापार की क्षणिकता का और शीघ्रता से समाप्ति का संकेत देता है यद्यपि कि – त – प्रत्यय से संयुक्त होने के कारण क्रिया-व्यापार की बारंबार आवृत्ति की भी इसमें व्यंजना है। अनागत के मन रूपी दर्पण में कौंधकर प्रतिबिंबित होने और शीघ्र ही उसके ओझल हो जाने का भाव प्रधान उपवाक्य में है पर इस पूरे व्यापार के फलस्वरूप जो मन में अंतर्व्यथा या टीस का भाव 'चीख' के रूप में प्रतिध्वनित होता है उसके शीघ्र समाप्त होने का संकेत नहीं है क्योंकि ।। चीखता हो ।। अर्थपरक लक्षणों के अनुसार 〈 +वाक्, +पीडा, —क्षणिक 〉 है—जबकि ।। कौंध जाता है ।। 〈 +दृश्य +क्षणिक 〉 है।

क्रियार्थ के स्तर पर प्रधान उपवाक्य का विधेय 〈 +निश्चयार्थ 〉 है। 'अनागत' दृश्य बिंब के रूप में मन में जो झलक मारता है उसके प्रति कवि-व्यक्तित्व आश्वस्त है, निश्चय रूप में उसकी उसे प्रतीति होती है। पर आश्रित उपवाक्य ।। चीखता हो ।। को संभावनार्थ रूप में रखा गया है। 'अनागत' के 'झलक मार' कर ओझल हो जाने से उत्पन्न जो पीड़ा है उसकी अनुभूति कवि-व्यक्तित्व को तो होती है पर उस पीड़ा के अभिप्राय और अर्थ (significance) के प्रति वह आश्वस्त नहीं। उसे यह पीड़ा, अवचेतन मन की अतल गहराइयों से आती एक अति-पुकार को संभावना के समान लगती है।

अर्थ-संप्रेषण की इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप हम निर्जीव 'अनागत' को सजीव व्यक्तित्व धारण करते पाते हैं। हम देखते हैं कि व्यक्ति रूप में उसका निवास-स्थल कवि व्यक्तित्व का 'अवचेतन मन' है जहाँ से 'कौंधकर' वह चेतन मन के दर्पण में अपना प्रतिबिंब डालता है और अपनी सत्ता का आभास कवि-व्यक्तित्व को देता रहता है। वह न केवल चेतन मन के दर्पण में कौंधकर अपने ठोस वस्तु-रूप की

प्रतिच्छवि डालता है अपितु 'चीख' कर अपने दर्द को अभिव्यक्त रूप देने वाले एक सजीव प्राणी के रूप में उभरता है। वह मानव-रूप है अतः पीड़ा की संवेदनात्मक अनुभूति की उसमें क्षमता भी है। कवि-व्यक्तित्व के साथ उसके मानवोचित संबंधों की स्थिति उसके जीवंत पक्ष की ओर संकेत देती है और कवि को विवश करती है कि उसकी चीखपूर्ण वाणी की सार्थकता का पता लगाए और उसके तथा अपने बीच के संबंधों की प्रकृति पर निर्णय दे।

———

परिशिष्ट–1

काव्यभाषा और शैलीविज्ञान*

आज का कवि, कविता को भाषा की ही एक विधा मानने लगा है और आलोचक भी यह स्वीकार करने लगा है कि कविता, भाषा का ही एक विशेष रूप है। दूसरी ओर यह भी स्पष्ट करने की उसमें कोशिश की गई है कि साहित्यिक जगत्, बाह्य जगत् की प्रतिच्छवि न होते हुए भी उससे असंपृक्त नहीं और क्योंकि वह ठोस एवं यथार्थ है अतः उसका भी वैज्ञानिक रीति से विश्लेषण संभव है। साहित्यिक एवं बाह्य जगत् के अंतर को समझना वस्तुतः वस्तुओं की 'आंतरिक अन्विति' और उसके 'कार्य-फलन' को समझना है जिसे हम अभिव्यक्ति शैली के माध्यम से जान सकते हैं, कम से कम कविता में उसका पता लगाने का और कोई साधन नहीं।

'कविता, भाषा का ही एक विशेष रूप है'––इस कथन को दो संदर्भों में ग्रहण किया जा सकता है। एक तो यह कि कविता की भाषा के अतिरिक्त भी अपनी सत्ता है, वह 'स्वनिष्ठ' (ऑटोनोमस) है। पर साहित्य अगर शाब्दिक कला (वर्बलआर्ट) है, तो कविता को समझने का माध्यम भी भाषा ही है। उस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि कविता की भाषा का अध्ययन अपने में साध्य नहीं। वह साधन रूप ही है जो कविता को समझने और ग्रहण करने के लिए समर्थ माध्यम प्रदान करता है।

लेकिन इस 'माध्यम' को कला के अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाले माध्यम से भिन्न समझना चाहिए। उदाहरण के लिए चित्रकला में प्रयुक्त होने वाले 'रंग' अथवा मूर्तिकला में माध्यम के रूप में ग्रहण किये जाने वाले 'पत्थर' की प्रकृति से भिन्न और कहीं अधिक विशिष्ट प्रकृति भाषा की है जो कविता में साधन रूप में प्रयुक्त होने के बावजूद भी 'साध्य' को बहुत दूर तक नियंत्रित-संचालित करती है। रंग और पत्थर तभी कलात्मक स्वरूप ग्रहण करते हैं जब वे कलाकृति में संश्लिष्ट हैं। कलाकृति से अलग वे सामान्य स्थूल उपादान मात्र हैं। अपने में न तो वे संस्कृति के अंग हैं और न परंपरा के वाहक। अतः रंगों की अपनी प्रकृति और पत्थरों की अपनी बनावट के वैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले रसायन-शास्त्री या भूगर्भ-शास्त्री जब किसी कलाकृति का विश्लेषण करने चलते हैं तब भी वे रंगों और पत्थरों की बनावट और विशिष्टता ही बता पाते हैं, उनकी दृष्टि स्थूल उपादन से आगे बढ़ ही नहीं पाती।

---

*'आलोचना' : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से साभार प्रस्तुत।

पर कविता के माध्यम के रूप में जिस भाषा को अपनाया जाता है, उसकी स्थिति चित्रकला और मूर्तिकला में प्रयुक्त होने वाले रंगों और पत्थरों की स्थिति से भिन्न है। पहला तथ्य तो यह है कि कलाकृति से हटकर रंग और पत्थर, प्रवृत्तयात्मक (डाइरेक्टेड) नहीं होते, वे अपनी ओर से कलाकार को 'निर्देश' नहीं देते। वे अपने प्रकृत-रूप में स्थिर एवं निष्क्रिय होते हैं। गत्यात्मक और सक्रिय बनाने का कार्य एकमात्र कलाकार करता है, अतः इन कलाकृतियों में जिस लय एवं संगीतात्मकता का हम अनुभव करते हैं, जिस गत्यात्मक और सक्रिय स्पंदन की हमें अनुभूति होती है वह कलाकृति की आंतरिक संरचना का परिणाम है। ठीक इसके विपरीत भाषा, यद्यपि कविता में माध्यम के रूप में ग्रहण की जाती है पर उसकी प्रकृति प्रवृत्यात्मक होती है, वह कवि को 'निर्देश' भी देती है। वह प्रकृत-रूप में स्थिर और निष्क्रिय न होकर गत्यात्मक और सक्रिय होती है। भाषा स्वयं में जीवंत होने के कारण अपना विशिष्ट दबाव डालती है। कवि जब भाषा को माध्यम के रूप में अपनाता है तब उसे इस प्रवृत्यात्मक दबाव के साथ भाषा को स्वीकार करना पड़ता है।

दूसरा तथ्य यह है कि भाषा स्वयं संस्कृति का एक अंग और परंपरा का वाहक है। अगर किसी देश का साहित्य उस देश की संस्कृति एवं परंपरा के साथ जुड़ा है तो उस साहित्य के माध्यम के रूप में प्रयुक्त भाषा का भी गहरा संबंध संस्कृति एवं परंपरा के साथ स्वयंसिद्ध है। भाषा संस्कृति का एक विशिष्ट अंग है। वह संस्कृति का स्थूल उपादान न होकर उसकी सक्रिय शक्ति है। भाषा और संस्कृति में एक अटूट संबंध है—इससे इनकार नहीं किया जा सकता, पर इसके आंतरिक संबंध को स्थूल रूप में ग्रहण करने पर अनेक भ्रांतियाँ फैलने की भी संभावना हो सकती है। उदाहरण के लिए, यह कथन सही है कि किसी भाषा को उसके बोलने वालों की संस्कृति से अलग कर अथवा किसी जातीय संस्कृति को उसकी भाषा के संदर्भ से काट कर सही ढंग से नहीं समझा जा सकता। पर इसके साथ यह कहना कि विभिन्न संस्कृतियाँ, विभिन्न भाषाओं की माँग करती हैं अथवा जितनी विभिन्न भाषाएँ होंगी उतनी ही भिन्न संस्कृतियाँ होंगी—–तर्कसंगत नहीं। भारतवर्ष स्वयं इसका उदाहरण है। यहाँ नितांत असंबद्ध भाषाएँ, एक संस्कृति की पुष्टि करती हैं और यह भी देखा जा सकता है कि एक ही परिवार की दो संबंधित भाषाएँ नितांत भिन्न दो संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। यद्यपि इंग्लैण्ड, अमरीका और आस्ट्रेलिया में एक ही भाषा (अँग्रेजी) बोली जाती है पर इसमें संदेह हो सकता है कि इन देशों की संस्कृति एक नहीं।

एक अन्य आधार पर भी भाषा अन्य कला-क्षेत्रों के उपादानों से अपने को अलग कर लेती है। कलाकृति से अलग रहकर रंग और पत्थर स्थूल एवं अव्यवस्थित रूप में रहते हैं और किसी कलाकृति में उपादान रूप में प्रयुक्त होते समय भी,

'कलात्मकता' रंगों और पत्थरों के आयाम में बँधी होकर भी, उनके अपने गुणों से मुक्त रहती है। लेकिन कविता के माध्यम के रूप में जिस भाषा को कवि अपनाता है वह न तो स्थूल है और न अव्यवस्थित ही। भाषा अभिव्यक्ति के ध्वनि स्तर पर भी विशेष व्यवस्था की माँग करती है और प्रतोक स्तर पर विशेष व्यवस्था की अपेक्षा रखती है। अपनी इसी व्यवस्था के आधार पर एक भाषा अन्य भाषाओं से भिन्न होती है। दूसरी ओर 'काव्यात्मकता' न केवल भाषा के आयाम में बँधी होती है वरन् बहुत दूर तक भाषा की अपनी संरचना और अपने गुणों द्वारा नियंत्रित भी होती है। काव्यात्मकता अपने माध्यम से मुक्त होकर सिद्ध रह ही नहीं सकती क्योंकि काव्यात्मक संरचना पूरी तरह से भाषा में अंतर्भुक्त होती है।

कविता में भाषा को 'काव्यात्मकता' के हेतु, माध्यम के रूप में जब कवि अपनाता है तो 'काव्यात्मकता' अंत तक अपने को माध्यम से मुक्त नहीं कर पाती। कवि कविता की रचना करता है, वह अपने 'संसार' का सृजन करता है। पर यहाँ दो स्थितियाँ संभव हैं। गीतात्मक (लिरिकल) कविताओं में जिस 'संसार' का कवि सृजन करता है वह संभव है अनुभूति के किसी विशेष क्षण तक ही सीमित हो जिसको व्यावहारिक दृष्टि से 'स्पेस' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। और अगर सिद्धांत के रूप में उसे 'स्पेस' मान भी लें तो वह ऐसे नुकीले बिंदु पर केंद्रित होती है जिसके आयाम को निश्चित नहीं किया जा सकता। एक दूसरी भी स्थिति हो सकती है जहाँ आयाम और वस्तुएँ 'स्पेस' का निर्माण करती हैं जहाँ कवि अपने 'संसार' का सृजन करता है—जैसे महाकाव्यों, गीति-नाट्यों आदि में।

दोनों ही स्थितियों में जहाँ अनुभूति नुकीले बिंदु पर केंद्रित होकर आयाम-मुक्त होती है और जहाँ अनुभवों के अपने नये संसार का सृजन होता है, भाषा का संबंध अनुभूति और अनुभवों के साथ बना रहता है। क्योंकि व्यक्ति की विशिष्ट से विशिष्ट अनुभूति भाषा के रंगों से मुक्त नहीं होती और दूसरी ओर भाषा, अनुभवों का रीति-पक्ष है। भाषा के माध्यम से ही हम अपने अनुभवों का साधारणीकरण करते हैं और इस साधारणीकरण के माध्यम से ही उसे दूसरे तक संप्रेषण करते हैं। अतः सामान्यीकृत अनुभवों से अलग हटे अनुभवों को भी हम जान-पहचान पाते हैं तो भाषा के ही माध्यम से। पर यह अवश्य है कि तब भाषा का स्वरूप सामान्य स्वरूप न होकर विशिष्ट हो जाता है। सामान्य से अलग हटकर जिस विशिष्ट भाषा का प्रयोग कवि करता है, वही भाषा की काव्यात्मक शैली कही जाती है। अनुभव के कथ्य-पक्ष और भाषा के रूप में उसके रीति-पक्ष के साथ तो लचीला पर अटूट संबंध है यह उसी का परिणाम है कि अनुभव के कथ्य पक्ष की विशिष्टता उसके रीति-पक्ष में भी विशिष्टता लाने को बाध्य करती है। अनुभव के कथ्य पक्ष और उसके रीति-पक्ष का यह संबंध कलाकृति के माध्यम के रूप में केवल भाषा में ही देखा जा सकता है। अन्य माध्यमों में उनके संबंधों के बीच न तो ऐसा अटूट संबंध ही देखा जा सकता है और न ऐसा लचीला संयोग ही।

सच तो यह है कि कथ्य और रीति-पक्ष के बीच पाये जाने वाले अटूट और लचीले संबंध ही कविता के आलोचकों से भाषा-वैज्ञानिक ज्ञान की माँग करते हैं। जब 'काव्यात्मकता' अंत तक अपने को अपने माध्यम (भाषा) से मुक्त नहीं कर सकती और जब भाषा की अपनी व्यवस्था को समझने के लिए एक 'विज्ञान' है, तब यह तर्कसंगत है कि उस विज्ञान का प्रयोग काव्यात्मकता का पता लगाने और उसको समझने के लिए भी किया जाए।

इस प्रकार कविता की साहित्यिक आलोचना के साथ भाषा-विज्ञान का संबंध है। भाषा के माध्यम से ही 'काव्यात्मकता' का पता लगाया जा सकता है और भाषा के अध्ययन का प्रत्येक क्षेत्र भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के अंतर्गत आता है। पर यहाँ पर भी ध्यान में रखना चाहिए कि साहित्यिक आलोचना और भाषा-विज्ञान एक-दूसरे के क्षेत्र को काटते भले ही हों और वे एक-दूसरे के लिए पूरक ही क्यों न हों, वे लक्ष्य-भेद के कारण अपने अलग क्षेत्र को निर्दिष्ट करते हैं। कविता को समझने और काव्यात्मकता का पता लगाने में भाषा-विज्ञान सहायक हो सकता है पर 'कविता' या 'साहित्य' अपनी संरचना को लेकर स्वतंत्र (ऑटोनोमस) है।

आलोचना और भाषा-विज्ञान के संबंध को लेकर दो अतिवादी दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं। पहले मत के अनुसार कविता की आलोचना वस्तुतः वहाँ से शुरू होती है जहाँ भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन अपनी सीमा-रेखा खींचता है। इस मत के मानने वालों में कविता की भाषा-वैज्ञानिक समीक्षा की उपयोगिता के अनुपात में विभिन्नता मिल सकती है—पर विचार-रूप में मूलतः वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'काव्यात्मकता' का पता मात्र भाषा-वैज्ञानिक पद्धति से नहीं लगाया जा सकता। उदाहरण के लिए रेने वेलेक (1960) के अनुसार शैलीविज्ञान कविता की संरचना को समझने में सहायक हो सकता है, उसकी संघटना के विश्लेषण में वह मदद दे सकता है, पर वह आलोचना का एक अंग है, पूरी साहित्यिक आलोचना नहीं। शैलीविज्ञान कविता की उस संरचना, संघटना, 'नार्म' और कार्यफलन का विश्लेषण कर सकता है जो 'मूल्यों' को अपने भीतर बाँधे रहता है, पर कविता की आलोचना का मुख्य धर्म मूल्यों का अन्वेषण है।

अपने इसी समीक्षात्मक लेख में एक दूसरे स्थल पर उनका कहना है कि भाषा-विज्ञान कविता के क्षेत्र में 'ध्वनियों' एवं 'छंदों' के अध्ययन में ही मुख्य रूप से सहायक है और कविता की वास्तविक समीक्षा उस बिंदु से प्रारंभ होती है जब भाषा-विज्ञान का यह अध्ययन समाप्त हो जाता है अर्थात् एक सीमा-रेखा तक पहुँचने के पश्चात् कविता की आलोचना, भाषा-विज्ञान की पहुँच के बाहर चली जाती है।

यह ठीक है कि पहले भाषा-वैज्ञानिकों ने कविता के ध्वनि पक्ष एवं छंदों का ही विश्लेषण किया और तत्संबंधी अध्ययन को वैज्ञानिकता प्रदान की। पर अन्यत्र यह दिखाया जा चुका है कि भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन ने कविता की केवल ध्वनियों

का ही विश्लेषण नहीं किया है। वे ध्वनियों के माध्यम के कविता के 'अंतर्टोन' का भी संकेत देते हैं, साथ में अर्थ के स्तर पर 'गौण' अर्थ का भी पता लगाते हैं जो 'काव्यात्मकता' के संदर्भ में 'प्रमुख' अर्थ बन जाता है।

रेने वेलेक स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि शैलीविज्ञान, कविता की उस संरचना, संघटना, 'नार्म' और कार्यफलन का विश्लेषण करने में सक्षम है जो 'मूल्यों' को अपने भीतर बाँधे रहता है। पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या मूल्यों की अपनी सत्ता कविता में कविता की संरचना, संघटना, 'नार्म' या कार्यफलन के बाहर संभव है? क्या मूल्यों का पता इनकी जानकारी के विना पाया जा सकता है? अगर मूल्यों का संबंध कविता से है और उसकी परिणति गुणात्मक प्रकृति से संबद्ध है तब इन मूल्यों की चर्चा कविता की संघटना और कार्यफलन की जानकारी के अभाव में यादृच्छिक ही होगी। ऐसी स्थिति में आलोचना का स्वरूप व्यवस्थित हो ही नहीं सकता। फिर पहले यह संकेत किया जा चुका है कि 'मूल्य' अथवा 'गुण' वस्तु की अपनी संरचना और कार्यफलन का ही परिणाम हो सकता है।

यह सच है कि भाषा-विज्ञान, विज्ञान की पद्धति को अपनाने के कारण वस्तु-विशेष की संरचना, संघटना और कार्यफलन तक ही अपने अध्ययन को सीमित रखता है, और इसके संदर्भ में वस्तु की सभी गुणात्मक संभावनाओं की ओर संकेत देता है पर 'गुणों' और 'मूल्यों' के यादृच्छिक एवं आत्यंतिक रूप को अपने सीमा-क्षेत्र से बाहर रखता है। अतः कविता के विश्लेषण के लिए जिस पद्धति को वह स्वीकार करता है, वह उसकी कार्यप्रणाली के अनुरूप, 'मूल्य-निरपेक्ष' ही होता है।

रूसी विद्वान् विनोकुर (1959) का यह मत है कि कविता की भाषा अपनी विशेष संरचना के फलस्वरूप भाषा-विज्ञान की परिधि से बाहर निकल जाती है और वह जिन समस्याओं को हमारे समक्ष लाती है, भाषा-विज्ञान के माध्यम से उसका समाधान नहीं ढूँढ़ा जा सकता। विनोकुर के मतानुसार जिन व्याकरणिक नियमों एवं व्यवस्था के द्वारा भाषा का वोलचाल का रूप बँधा होता है उसमें कहीं भिन्न व्यवस्था कविता की भाषा की होती है। कविता में प्रयुक्त होने वाली भाषा का कार्यफलन, सामान्य भाषा के कार्यफलन से भिन्न होता है और वह कला के अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त माध्यम के कार्यफलन के समरूप होता है। विनोकुर की इस मान्यता की पुष्टि कोझिनोव ने अपने लेख 'क्या संघटनात्मक काव्यशास्त्र संभव है?' में की है। उनके अनुसार कविता, भाषा से भिन्न 'संघटना' की माँग करती है।

विनोकुर अथवा कोझिनोव (1965) के कथन पर दो आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। एक, कविता के माध्यम के रूप में प्रयुक्त 'भाषा' कला के अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त माध्यम के अनुरूप होती है। इस विषय पर प्रारंभ में ही दिखलाया जा चुका है कि ऐसी मान्यता भ्रामक है। दूसरी आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि भाषा-विज्ञान का क्षेत्र केवल भाषा के बोल-चाल के रूप का ही परीक्षण नहीं है। भाषा का प्रत्येक रूप, उसकी

प्रत्येक विधा उसके अध्ययन-क्षेत्र के भीतर आती है। अगर 'भाषा' और उसकी 'बोली' दोनों का अध्ययन भाषा-विज्ञान कर सकता है, अगर व्यक्ति की 'स्पीच' और समाज की 'भाषा' को वह अपने भीतर समेट सकता है और अगर बोलचाल की घरेलू भाषा और तकनीकी विषयों पर लिखे गए शोध-प्रबंधों की भाषा दोनों को समान भाव से अपने अध्ययन का विषय बना सकता है, तब यह सवाल उठाया जा सकता है कि भाषा के साहित्यिक रूप या कविता की भाषा का ही अध्ययन उसके क्षेत्र के बाहर कैसे है ?

इससे किसे इनकार हो सकता है कि कविता में प्रयुक्त भाषा व्यवस्था एवं कार्यफलन सामान्य बोलचाल की भाषा की व्यवस्था एवं कार्यफलन से भिन्न होता है। पर सवाल व्यवस्था एवं कार्यफलन की विभिन्नता का नहीं है। सवाल तो इसका है कि भाषा-विज्ञान कविता में प्रयुक्त भाषा की व्यवस्था एवं कार्यफलन का विश्लेषण कर सकता है या नहीं। जिस विश्लेषणात्मक पद्धति को भाषा-वैज्ञानिक अपनाता है, उस पद्धति का प्रसार काव्यात्मक भाषा के क्षेत्र तक संभव है या नहीं। चॉम्स्की के व्याकरणिक स्तर-भेद की धारणा की चर्चा करते हुए अन्यत्र यह दिखलाया जा चुका है कि भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रसार काव्यात्मक भाषा तक करना संभव है। यहाँ इतना और जोड़ देना आवश्यक है कि जब यह कहा जाता है कि कविता भाषा के सामान्य प्रयोग से अलग हटी भाषा का ही विशेष रूप है तो उसका तात्पर्य यह नहीं कि सामान्य से अलग हटे काव्यात्मक भाषा-रूप किसी भी व्यवस्था के नियंत्रण से बाहर हैं अर्थात् कवि को पूरी छूट है कि वह भाषा का मनमाना प्रयोग करे। काव्यात्मक भाषा, भाषा के 'नार्म' की व्यवस्था की तुलना में अधिक लचीली (फ्लेक्सिबल) और व्यापक होती है, पर उसके लचीलेपन की भी एक सीमा होती है, उसकी व्यवस्था की व्यापकता की भी एक परिधि होती है, जिसके बाहर जाने पर काव्यभाषा के नियमों के अतिक्रमण के रूप में काव्य-प्रयोग पाठकों के मन में खटक जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्यभाषा की भी अपनी व्यवस्था होती है, उसके अपने 'कार्यफलन' होते हैं और वे भाषा के विशेष रूप की विशेष व्यवस्था एवं कार्यफलन हैं। अतः उसका विश्लेषण भाषा-विज्ञान के सीमा क्षेत्र के भीतर ही है। कहने के लिए तो यह भी कहा जा सकता है कि काव्यात्मक भाषा की इस विशेष व्यवस्था एवं कार्यफलन की विशिष्टता का पता भी हम तभी पाते हैं जब हम इसे सामान्य भाषा की व्यवस्था के 'नार्म' एवं कार्यफलन के संदर्भ में रखकर उसका विश्लेषण करते हैं।

कविता और भाषा-विज्ञान के संबंधों को लेकर दूसरे अतिवादी दृष्टिकोण को अपनाने वाले विद्वानों के अनुसार कविता की आलोचना और व्याख्या भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से करनी होगी और तब कविता को साहित्य का अंग न मानकर केवल भाषा का ही एक रूप मानना होगा। कविता की भाषा इस दृष्टिकोण के अनुसार स्वयं अपने में साध्य होती है। इस विचार को मानने वालों में **रेविज़न** (1965), **तोपोरोव**

(1962), सोल सपोर्टा (1960) आदि विद्वान् हैं। उदाहरण के लिए सोल सपोर्टा कविता की प्रकृति और भाषा के अन्य रूपों, यथा—गद्य अथवा सामान्य बोलचाल की भाषा के संबंधों की चर्चा उठाते हुए पहले ही दो मोटे विभाग कर लेना चाहते हैं। पहला वर्ग उन भाषा-संबंधी कला-रूपों का है जो भाषा से संबद्ध होने के कारण भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के भीतर आते हैं। दूसरा वर्ग उन कलारूपों का है जो भाषा से संबद्ध न होने के कारण उसके बाहर हैं, यथा—संगीत, चित्रकला आदि, जिसे वह 'कला' की संज्ञा देते हैं। इस विभाजन के बाद कविता के भाषा और कला के बीच के संबंधों की चर्चा उठाते हुए तीन स्थितियों की ओर वे संकेत देते हैं:

1. कविता भाषा है अर्थात् कविता का क्षेत्र पूर्णतः भाषा-क्षेत्र की अपनी सीमा के भीतर है, अतः वह भाषा का उपांग है। इस तरह भाषा-विज्ञान की परिधि के भीतर ही कविता की आलोचना संभव है।
2. कविता भाषा नहीं है। वह कला का उपांग है, अतः वह भाषा-विज्ञान के क्षेत्र से बाहर है।
3. कविता भाषा और कला, दोनों ही क्षेत्रों को काटने वाली विधा है, अर्थात् उसका कुछ अंश कला के अंतर्गत और कुछ भाषा की सीमा के भीतर आता है और इस प्रकार वह एक साथ दो विभिन्न क्षेत्रों की सदस्य है।

इन तीनों संबंधों के बीच भाषा-वैज्ञानिक आलोचक के रूप में सपोर्टा पहले संबंध को प्राथमिकता देना चाहते हैं क्योंकि उनके अनुसार अन्य दोनों स्थितियों में आलोचना को अपने भाषा-वैज्ञानिक दायित्व एवं कार्यक्षेत्र से बाहर जाना पड़ेगा। अगर आलोचक भाषा-वैज्ञानिक है तो उसे कविता को भाषा का उपांग मानना ही होगा। उनकी यह विवशता भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण से निकले निष्कर्ष और साहित्यिक अनुभूति के फलस्वरूप प्राप्त सहजोपलब्ध अर्थ के बीच दिखाई पड़ने वाली असंगतियाँ हैं। अगर भाषा-वैज्ञानिक निष्कर्ष सहजोपलब्ध अर्थ के विपरीत हैं तब हम निष्कर्षों की वैज्ञानिकता पर ही शंका उठाने लगेंगे। उनके अनुसार वैज्ञानिक विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्ष जब हमारे अंतर्ज्ञान के विपरीत जाता दिखाई पड़ता है तो प्रायः हम अपने विश्लेषण को ही सुधारने या बदलने की ओर प्रवृत्त होते हैं। शायद ही कभी हम अंतर्ज्ञान की सच्चाई पर शंका उठाते हों। अतः भाषा-वैज्ञानिक आलोचक के लिए यही उचित है कि वह कविता के भाषा और कला के बीच के संबंधों में पहली स्थिति को अपनाए और यह मानकर चले कि सभी कविताएँ, भाषा के ही रूप हैं पर भाषा के सभी रूप कविता नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त सपोर्टा अपने विवेचन में तीन और मान्यताओं की ओर संकेत देते हैं। वाक्य-गठन-संबंधी विवरण और विश्लेषण की ओर आलोचक को अर्थ-

विश्लेषण के पहले प्रवृत्त होना चाहिए क्योंकि वितरण-संबंधी विवरण को अधिक सटीक वैज्ञानिक ढंग से दिया जाना संभव है। दूसरा, शैली-विज्ञान, भाषा-विज्ञान के ज्ञान पर आधारित है क्योंकि बिना व्याकरण के संदर्भ के शैली का निरूपण ही नहीं किया जा सकता। अंतर है तो केवल इतना कि जब व्याकरण मूलतः नियम-निर्देशात्मक (प्रिडिक्टिव) होता है वहाँ शैली-विज्ञान का लक्ष्य विवरणात्मक और वर्गीकरणात्मक (क्लासीफिकेटरी) रहता है। तीसरा, कविता अगर 'नार्म' से अलग हटी हुई भाषा है, तब कविता में यह स्थिति दो ढंगों से आती है। एक ओर तो कविता की भाषा 'नार्म' की तुलना में अतिरिक्त नियमों का अपने ऊपर आरोपण करती है, इसका उदाहरण छंद या तुक-निर्माण में देखा जा सकता है। दूसरी ओर कविता की भाषा, 'नार्म' की तुलना में कहीं अधिक स्वच्छंद होती है और इस प्रकार कुछ सामान्य नियमों का अतिक्रमण करती देखी जा सकती है, उदाहरण के लिए, 'पेड़ फुसफुसाते हैं', अथवा, 'हवा सीटी बजाती है' ऐसे वाक्य 'नार्म' के नियमों का अतिक्रमण करते हैं।

सपोर्टा द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं पर दो आधारभूत आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। पहली आपत्ति तो यह है कि वे 'वस्तु' की प्रकृति को विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा नियंत्रित करना चाहते हैं। अतः विश्लेषणात्मक प्रणाली की अपनी सीमा भी उनके लिए वस्तु की प्रकृति की सीमा बन जाती है। भाषा या कविता प्रकृत स्वरूप में क्या है—यह एक प्रश्न है और भाषा-विज्ञान अथवा काव्यशास्त्र उसको कहाँ तक जान पाता है, या उसकी प्रकृति से उस सीमा तक परिचित हो सकता है—यह सर्वथा दूसरा प्रश्न है। 'वस्तु' विभिन्न कालों में अपने आधारभूत रूप में एक रह सकती है पर उसके विश्लेषण की रीति विकसित होती रहती है। फलतः वस्तु के प्रति ज्ञान बढ़ सकता है, उसको और सही ढंग से जाना जा सकता है। भाषा-विज्ञान और काव्यशास्त्र का इतिहास स्वयं में इसका उदाहरण है कि एक वस्तु को देखने की दृष्टि और उसके विश्लेषण की प्रणाली में विकास हुआ है न कि उस वस्तु का, उदाहरण के लिए, किसी एक निश्चित काल में बोले जाने वाले संस्कृत भाषा के रूप को ही लें अथवा कालिदास की रचना 'अभिज्ञानशाकुंतल' को देखें। एक निश्चित काल की संस्कृत भाषा और विशेष कृति अभिज्ञानशाकुंतल' मूल रूप में वही है, पर हमारी विश्लेषणात्मक प्रणाली के विकसित होने के फलस्वरूप उनकी मूल प्रकृति के ज्ञान में हमारी वृद्धि हुई है न कि उस वस्तु की मूल प्रकृति में और अगर यह तथ्य सही है तो निश्चय ही वस्तु की मूल प्रकृति, विश्लेषणात्मक प्रणाली को नियंत्रित करेगी न कि प्रणाली वस्तु को पारिभाषित करने में सक्षम होगी।

जब सपोर्टा यह कहते हैं कि कविता के अध्ययन में भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण की पहली माँग यह है कि भाषा-वैज्ञानिक यह स्वीकार करें कि कविता भाषा का ही एक रूप है और इसके अतिरिक्त वह जो भी है वह उसके लिए त्याज्य और अग्राह्य

है, तो वस्तुतः वे विश्लेषण की सीमा को ही कविता की सीमा मान बैठते हैं। जैसा ऊपर संकेत दिया जा चुका है—यह सीमा, न तो कविता की सीमा है, क्योंकि कविता की मूल प्रकृति विश्लेषणात्मक प्रणाली से अलग अपनी सत्ता रखती है और न यह अध्ययन की प्रणाली की ही सीमा मानी जा सकती है क्योंकि प्रणाली का विकास संभव है, और उसका प्रसार भी।

कविता के संदर्भ में जब सपोर्टा भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली से प्राप्त निष्कर्षों और अंतर्ज्ञान के फलस्वरूप जाग्रत बोध में असंगति की चर्चा उठाते हैं तब यह भूल जाते हैं कि अगर अंतर्ज्ञान से जाग्रत बोध के सही-गलत होने की बात उठाई जा सकती है, तो प्रणाली के वैज्ञानिक-अवैज्ञानिक होने का प्रश्न भी उठाया जा सकता है। विश्लेषणात्मक निष्कर्ष और अंतर्ज्ञान को लेकर चार स्थितियाँ हो सकती हैं :

1. प्रणाली वैज्ञानिक है पर अंतर्ज्ञान गलत।
2. प्रणाली अवैज्ञानिक है पर अंतर्ज्ञान सही।
3. प्रणाली वैज्ञानिक है और अंतर्ज्ञान सही।
4. प्रणाली अवैज्ञानिक है और अंतर्ज्ञान भी गलत।

इसमें अंतर्विरोध की समस्या पहली दो स्थितियों में ही मुख्य रूप से उभरती है और इन दोनों स्थितियों में उनका निराकरण संभव है। उदाहरण के लिए अगर प्रणाली वैज्ञानिक है अर्थात् भाषा-वैज्ञानिक निष्कर्ष सही हैं और कविता पाठ के अंतर्ज्ञान से उत्पन्न बोध गलत है, तो उस बोध को गलत सिद्ध किया जा सकता है और पाठकों में बोध की सही दिशा उत्पन्न की जा सकती है। अंतर्ज्ञान से प्राप्त बोध का सीधा संबंध पाठकों के ज्ञान की पूर्व-पीठिका और कविता के संदर्भ के साथ रहता है। उसके ज्ञान की पूर्व-पीठिका का विकास अगर उस स्तर पर कर दिया जाए, जिसको वैज्ञानिक विश्लेषण अपनाता है तो इसमें संदेह नहीं कि कविता का संदर्भ उस ज्ञान के आधार पर नया बोध प्रदान करेगा जो भाषा-वैज्ञानिक निष्कर्षों के समरूप होंगे। एक ही कविता का पाठ स्कूल के बच्चे भी करते हैं, विश्वविद्यालय के छात्र भी और पढ़े-लिखे सहृदय व्यक्ति भी, पर उनके अंतर्ज्ञान से उत्पन्न बोध भिन्न होते हैं। काव्यशास्त्र की एक समस्या यह भी है कि वह बता दे कि किसी कविता का उचित बोध या मर्म क्या है? अगर भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण इस दिशा में कुछ दे सकता है तो वह उसकी अपनी उपलब्धि तो होगी ही, काव्यशास्त्र को अंतर्ज्ञान से हटाकर वैज्ञानिकता की ओर लाने में सहायक भी सिद्ध होगी।

पर यह भी संभव हो सकता है कि जिस प्रणाली को भाषा-वैज्ञानिक, वैज्ञानिक समझता हो, वह ज्ञान के व्यापक संदर्भ में अवैज्ञानिक हो अथवा उसकी प्रणाली विकसित न होने के कारण सत्य के खंड रूप (दो निश्चित पक्षों) की ओर ही संकेत देने में समर्थ हों जिसे वह सत्य का पूर्ण रूप मान बैठे। उस स्थिति में क्या यह उचित

न होगा कि प्रणाली का विकास और प्रसार किया जाए, अधिक से अधिक पक्षों का ज्ञान प्राप्त किया जाए। अभी तक अगर भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली कविता के एक-दो पक्षों के विवेचन तक ही सीमित है, अथवा अर्थ-विज्ञान को समझने की प्रणाली अगर विकसित न होने के कारण अधूरी है अतः वाक्य-गठन पर ही अधिक आग्रह रखती है, तो इसका यह अर्थ तो नहीं कि कविता को उसी सीमा तक बाँधकर रखा जाए, जहाँ तक उसकी प्रणाली सीमित करती है। कहने का तात्पर्य यह कि 'कविता' के क्षेत्र की अपनी संभावना एक वस्तु है, और उसके अध्ययन, विश्लेषण के क्षेत्र को प्रणाली के अनुरूप सीमित करने का सवाल दूसरा है। सिद्धांत-रूप में कविता की परिभाषा अपनी संभावना के अनुरूप होनी चाहिए और व्यवहार पक्ष में उसके अध्ययन-क्षेत्र की परिधि विश्लेषणात्मक प्रणाली की अपनी स्थिति के आधार पर निर्धारित होनी चाहिए। इसके साथ ही व्यवहार-पक्ष का प्रयत्न यह भी होना चाहिए कि वह सिद्धांत पक्ष के पूरे सीमा-क्षेत्र के अध्ययन-विश्लेषण के लिए अपनी प्रणाली का विकास-प्रसार करे।

मोटे तौर पर अगर हम यह मानकर चलें कि कविता का अध्ययन जब हम कला के अन्य क्षेत्रों—संगीत, चित्र आदि की उपलब्धियों के संदर्भ में करते हैं, उस समय वह 'काव्यशास्त्र' के अंतर्गत आता है और जब हम भाषा की सामान्य प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में उसका विश्लेषण और विवेचन करते हैं, उस समय वह शैली-विज्ञान के क्षेत्र में आता है, तब एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि काव्यशास्त्र और शैली-विज्ञान के बीच अपने संबंध क्या हैं ? क्या काव्यशास्त्र और शैली-विज्ञान, दो विभिन्न एवं असंबद्ध क्षेत्र हैं अथवा एक वस्तु (कविता) को देखने की मात्र दो विभिन्न दृष्टियाँ हैं ? दूसरे शब्दों में कहें तो यह पूछा जा सकता है कि क्या विभिन्न 'लक्ष्यों' के कारण ये दोनों क्षेत्र एक-दूसरे से अलग हैं अथवा लक्ष्य तो एक है, पर उनकी परीक्षण-प्रणाली भिन्न हैं अतः वे दो निर्दिष्ट क्षेत्र हैं ?

इस प्रश्न को लेकर विद्वान् एकमत नहीं दिखाई देते। रेने वेलेक-कोझिनोव अथवा सोल सपोर्टा, रेविज़न आदि विद्वान् 'शैली-विज्ञान' को मात्र भाषा-विज्ञान के क्षेत्र की वस्तु समझते हैं और इस आधार पर कि काव्यशास्त्र और भाषा-विज्ञान की अध्ययन-प्रणाली के साथ-साथ उनके लक्ष्य भी भिन्न हैं, काव्यशास्त्र और शैली-विज्ञान को ज्ञान के दो अलग-अलग विषय घोषित करना चाहते हैं। विद्वानों का एक दूसरा समुदाय है जो शैली-विज्ञान को केवल भाषा-विज्ञान की वस्तु नहीं मानता। इन विद्वानों के अनुसार काव्यशास्त्र और भाषा-विज्ञान के सम्मिलित सहयोग से आलोचना की एक नई प्रणाली विकसित हो सकती है जो एक ओर 'काव्यात्मकता' का विश्लेषण-परीक्षण भी करेगी और उसकी प्रणाली भी वैज्ञानिक होगी। उनके अनुसार 'शैली-विज्ञान' के रूप में कविता के विश्लेषण की जो नई पद्धति विकसित हो रही है वस्तुतः वह अपने स्वरूप एवं प्रकृति में इसी संभावना पर आधारित है। **एडवर्ड**

स्टैंकविक्ज़ (1960) के अनुसार भाषा-वैज्ञानिक जो अपने क्षेत्र में वस्तुवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने में समर्थ सिद्ध हुआ है, वह एक साहित्यिक आलोचक को भी उसके सिद्धांत-क्षेत्र में गहरी दृष्टि और विश्लेषणात्मक परीक्षण में वैज्ञानिक पद्धति दे सकता है। लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि भाषा-वैज्ञानिक को यह मालूम हो कि उसकी परीक्षण-सामग्री किन तथ्य-समूहों पर आधारित है। इस जानकारी के बिना उसका काव्यभाषा का अध्ययन परंपरा से चले आ रहे भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण से आगे नहीं बढ़ सकता। अगर भाषा-वैज्ञानिक और काव्य-समीक्षक के सहयोग को फलप्रद बनाना है तब यह आवश्यक है कि भाषा-वैज्ञानिक काव्य-रूपों एवं उसकी परंपरा से संबंधित सभी प्रश्नों से भली भाँति परिचित हो और काव्य-समीक्षक को भी आधुनिक भाषा-विज्ञान की अपनी प्रगति, उसके द्वारा अपनाई जा रही नवीनतम पद्धति और इस क्षेत्र की उपलब्धियों का सही ज्ञान हो।

रोमन याकोब्सन शैली-विज्ञान को भाषा-विज्ञान का ही एक अंग मानते हैं, पर ध्यान रहे कि उनके भाषा-विज्ञान का क्षेत्र सामान्य रूप में मान्य भाषा-विज्ञान क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक है। उनके भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के भीतर न केवल अकाव्यात्मक (कैजुअल) वाक्य आते हैं वरन् 'काव्यात्मक' (नान-कैजुअल) वाक्य भी उसी सीमा-क्षेत्र के भीतर हैं। उनके अनुसार काव्यशास्त्र को भाषा-विज्ञान के क्षेत्र से बाहर निकालने का प्रयत्न करने वाले वे भाषा-वैज्ञानिक हैं जो भाषा-विश्लेषण की तथ्य-सामग्री के रूप में केवल अत्यंत व्यवस्थित अकाव्यात्मक वाक्यों को स्वीकार करते हैं अथवा जिनके मत के अनुसार अध्ययन की सीमा केवल व्याकरण-क्षेत्र की परिधि तक सिमटी रहती है, या जो अर्थ को केवल वस्तुओं के सूचक-कार्यफलन तक बाँधकर रखते हैं बिना यह जाने कि भाषा के अन्य कार्यफलन भी हो सकते हैं। उनके मत के अनुसार यह ठीक है कि किसी भी एक भाषा को व्यवहार में लाने वालों के सामाजिक वर्ग के लिए भाषा एक ही होती है, लेकिन इस एक भाषा की व्यवस्था के भीतर कई उप-व्यवस्थाएँ होती हैं। हर उप-व्यवस्था भाषा-संघटना का एक निश्चित 'पेटर्न' प्रदान करती है और एक भाषा के बीच पाये जाने वाले 'पैटर्न' और 'सब-पैटर्न' में एक निश्चित संबंध होता है तथा हर पैटर्न, भाषा के एक निश्चित कार्यफलन का परिणाम होता है।

भाषा-विज्ञान का कार्य-क्षेत्र, भाषा की प्रत्येक संघटना का पता लगाना है, 'पैटर्न' और 'सब-पैटर्न', सबकी खोज करना है और उसके संदर्भ में उन सभी कार्यफलन का विश्लेषण करना है जो भाषा के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न 'पैटर्न' 'सब-पैटर्न' के साथ जुटा होता है। कविता में भाषा के जिस 'पैटर्न' या 'सब-पैटर्न' को हम पाते हैं उसकी अपनी विशिष्टता होती है और इस विशिष्टता को हम 'सब-पैटर्न' के साथ उनके कार्यफलन को जोड़कर जान सकते हैं। भाषा-विज्ञान अगर भाषा के भीतर पाये जाने वाले सभी पैटर्न एवं 'सब-पैटर्न'

तथा तज्जनित कार्यफलन को अपना अध्ययन-क्षेत्र स्वीकार करना है, तब कविता को उसके सीमा-क्षेत्र से बाहर नहीं किया जा सकता ।

अपने लेख 'भाषा-विज्ञान और काव्य-शास्त्र' के निष्कर्ष-रूप में उनका कहना है—"अगर कवि रैंसम का यह कथन सही है (और वह सही है) कि 'कविता, भाषा का ही एक रूप है' तब भाषा को अपनी अध्ययन-सामग्री बनाने वाले भाषा-वैज्ञानिक को अपने कार्य-क्षेत्र के भीतर कविता को भी स्वीकार करना ही होगा । इस सम्मेलन ने भलीभाँति सिद्ध कर दिया है कि अब वह समय हमसे काफी पीछे छूट गया है जब भाषा-वैज्ञानिक और साहित्य के इतिहासकार काव्य-संघटना-संबंधी प्रश्नों को टाल जाया करते थे । अगर अभी भी कुछ आलोचक ऐसे हैं जो काव्यशास्त्र की चर्चा को भाषा-विज्ञान की सामर्थ्य-शक्ति के बाहर समझते हैं तब मैं व्यक्तिगत रूप से इसमें विश्वास रखता हूँ कि काव्यात्मक अ-क्षमता को भूल से स्वयं भाषा-विज्ञान की सीमा समझा जाने लगा है । यहाँ पर उपस्थित प्रायः सभी व्यक्ति यह अनुभव कर रहे हैं कि भाषा के काव्य-फलन के प्रति बधिर भाषा वैज्ञानिक और भाषा-वैज्ञानिक समस्याओं से उदासीन एवं भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली से अपरिचित साहित्य-शास्त्री, दोनों ही समान रूप से अपने समय से बहुत पीछे हैं ।"

जहाँ तक काव्यशास्त्र और भाषा-विज्ञान के अंतस्संबंधों का प्रश्न है, याकोब्सन के अनुसार संघटनात्मक स्तर पर काव्यशास्त्र, भाषा-विज्ञान का एक अभिन्न अंग है । जिस प्रकार चित्रकला की विवेचना का संबंध चित्रों की संघटना से संबंधित रहता है, उसी प्रकार काव्यशास्त्र का संबंध शाब्दिक संघटना की समस्याओं के साथ रहता है और शाब्दिक संघटना के अध्ययन का मूल विज्ञान भाषा-शास्त्र है, अतः काव्यशास्त्र भाषा-विज्ञान का अपना (विशिष्ट) एक अंग है ।

लेकिन साथ में काव्यशास्त्र मूलतः इस प्रश्न को लेकर भी चलता है कि **वह कौन से तत्व हैं जो शाब्दिक संदेश (मेसेज) को कला की वस्तु बना देते हैं?** जब काव्यशास्त्र को इस संदर्भ में कला के अन्य क्षेत्रों से 'व्यवच्छेदक दृष्टि' के आधार पर ग्रहण किया जाता है अर्थात् जब यह देखने का प्रयास किया जाता है कि शाब्दिक कला के रूप में गृहीत कविता, कला के अन्य क्षेत्रों अथवा अन्य शाब्दिक व्यवहार (वर्बल बिहेवियर) से किस आधार पर भिन्न है तब निश्चय ही साहित्यिक क्षेत्र में उसका एक प्रमुख स्थान बन जाता है ।

भाषा और साहित्य के प्रसिद्ध सोवियत मर्मज्ञ **विनोग्रादोव** (1963) के अनुसार काव्यशास्त्र को मात्र भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में रखना असंगत होगा । कला-शैली की सैद्धांतिक और व्यवहारिक समीक्षा की सबसे बड़ी कठिनाई इसलिए उत्पन्न होती है कि कविता, गुणात्मक स्तर पर दो नितांत भिन्न सामाजिक कार्य-फलों का अभिन्न संयोग होती हैं अर्थात् भाषा और साहित्य, गुणात्मक स्तर पर दो भिन्न क्षेत्र हैं, सामा-

जिक कार्यफलन की दृष्टि से भी ये दो तत्व हैं पर कविता की विशेषता इसी में है कि इन दो नितांत भिन्न तत्वों को वह अपनी संघटना में एक साथ अंतर्निहित किए रहती है। उनके अनुसार जब हम भाषा के संदर्भ में शैली की चर्चा उठाते हैं, तब भाषा-शैली होने के कारण उसका यह पक्ष 'भाषा-विज्ञान' के भीतर आता है और जब हम साहित्य के व्यापक संदर्भ में शैली की बात करते हैं, तब उसका दूसरा पक्ष सामने आता है जिसे 'साहित्यिक शैली' कहा जा सकता है जो भाषा-विज्ञान का नहीं वरन् साहित्य का अपना क्षेत्र है। ये दोनों शैलियाँ—भाषा एवं साहित्य, अपने सम्मिलित सहयोग और कार्यफलन के अपने निजी संतुलन के परिणामस्वरूप 'कला-शैली' को जन्म देती हैं। काव्यशास्त्र के अंतर्गत जब कला-शैली की चर्चा उठाई जानी चाहिए तब उनके अनुसार उसमें भाषा और साहित्य, दोनों ही शैलियों का विश्लेषण होना अपेक्षित है। अतः काव्यशास्त्र शैली के संदर्भ में मात्र भाषा-विज्ञान की वस्तु नहीं, उसके कुछ पक्ष उससे अलग भी हैं और कविता के विवेचन में इन दोनों पक्षों को अलग रखना अनिवार्य है।

अपने विवेचन में विनोग्रादोव यह स्पष्ट नहीं कर पाते कि भाषा और साहित्य शैली के अंतर्द्वंद्व के फलस्वरूप आविर्भूत 'कला-शैली' का स्वरूप क्या है? फिर स्पिट्जर के मत का खंडन भी वह करते हैं पर यह प्रतिपादित नहीं कर पाते कि जिसे वह 'साहित्य-शैली' कहते हैं उसे कविता के संदर्भ में भाषा के माध्यम से समझाया जाना संभव है अथवा नहीं। अगर भाषा के आधार पर समझना संभव नहीं तब उसे भाषा-शैली के सीमा-क्षेत्र से बाहर रखना ठीक है, पर अगर भाषा की अपनी व्यवस्था एवं आंतरिक संघटना के आधार पर उसे परखना और जानना संभव है तब कहीं ऐसा तो नहीं कि उनके द्वारा स्थापित साहित्यिक शैली भाषा के आंतरिक संघटना के विशिष्ट कार्यफलन का ही परिणाम है।

झिरमुन्स्की (1961:29) के अनुसार कला-शैली को भाषा के आधार पर नहीं समझाया जा सकता। कविता की कला-शैली का संबंध, कवि की जीवन-दृष्टि और उसके भाव-जगत् के साथ होता है जो यद्यपि शब्दों के माध्यम से तो व्यक्त होता है पर शब्दों की ही परिधि में ही सिमटा नहीं होता। कविता शब्दों के पार जाकर सामान्यीकृत बौद्धिक प्रत्ययों से ऊपर उठकर अबौद्धिक जगत् की सृष्टि करती है?

अगर विनग्रादोव और झिरमुन्स्की की बात मान भी ली जाए, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कविता में जिस भाषा का प्रयोग होता है अथवा अपने माध्यम को कविता जिस रूप में अपनाती है और उसके सहारे जिस 'अबौद्धिक कथ्य' अथवा 'भावजगत् की जीवन-सृष्टि' को वह व्यक्त करती है, उसके बीच कोई अंतरंग संबंध नहीं। यह तो कहा जा सकता है कि बोलचाल की सामान्य भाषा

'अबौद्धिक कथ्य' या 'जीवन-दृष्टि' का माध्यम बनने में समर्थ नहीं। कविता की भाषा 'काव्यात्मक' भी तो इसीलिए है कि वह बोलचाल की इस अक्षमता को अन्य साधनों से दूर करती है, अपनी संभावनाओं का प्रसार करती हुई वह एक असामान्य स्तर पर आसामान्य कथ्य को भी अंतर्भुक्त कर लेती है। जिस कारण से भाषा की सामान्य स्थिति असामान्य हो उठती है उस कारण की ओर संकेत भाषा की असामान्य स्थिति देती है। सवाल तो इसका है कि भाषा की असामान्य स्थिति और उस असामान्य स्थिति में पहुँचाने वाले कारण (कविता में–'अबौद्धिक कथ्य' और भावजगत् की जीवन-दृष्टि) के बीच के संबंधों की प्रकृति क्या है ? क्या इन संबंधों की प्रकृति को अनुसंधान का विषय बनाना संभव है ? 'अबौद्धिक कथ्य' तक भाषा की सामन्यीकृत प्रकृति का सहारा लेते हुए पहुँचा जा सकता है।

कविता के 'अबौद्धिक कथ्य' का पता अगर कविता ही देती है तो निश्चय ही कविता जिस माध्यम से उसे अपने भीतर संजोती है, उस माध्यम का विश्लेषण ही संजोई गई वस्तु को सही दिशा में समझने में सहायक होगा। स्पिट्ज़र (1962:141–2) के अनुसार "यह कहने के बजाय कि कविता शब्द-निर्मित नहीं होती और कविता में शब्द अपने अर्थ से मुक्त होकर, बौद्धिक-प्रत्यय के पार जाकर लयात्मक प्रत्यय का सृजन करते हैं, मैं यह कहना चाहूँगा कि कविता शब्द-निर्मित ही होती है और उन शब्दों का अर्थ भी उसमें 'स्थित' रहता है। लेकिन कवि की चमत्कारपूर्ण प्रतिभा, जो काव्य-संघटना को एक समग्र दृष्टि के लयात्मक प्रत्यय में बाँधता है, इन शब्दों एवं उसमें स्थित अर्थ को बौद्धिक प्रत्यय के पार ले जाकर लयात्मक प्रत्यय तक पहुँचा देती है। और यह भाषा-शास्त्र के अध्येता का कार्य है कि वह इस तथ्य का विश्लेषण करे कि निर्देशित रूपांतरण की प्रक्रिया क्या है। कविता के अबौद्धिक पक्ष भाषा-वैज्ञानिक आलोचक के हाथों में अपनी सत्ता खो नहीं देते अथवा उनके हाथों उनका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। इसके ठीक विपरीत वह कवि के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए कार्य करेगा (यह बात दूसरी है कि वह कवि स्वीकृति की अपेक्षा नहीं रखेगा) और धैर्यपूर्वक विश्लेषणात्मक पद्धति का सहारा लेते हुए उस पथ को ढूँढ़ने का प्रयत्न करेगा जो बौद्धिक से अबौद्धिक की ओर कविता को ले जाता है और जिस दूरी को कवि अपनी एक छलांग में ही तय कर लेता है।"

कहने का तात्पर्य यह है कि अगर यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि कविता 'अबौद्धिक कथ्य' और 'भाव-जगत् के सत्य' को लेकर चलती है तब भी उसे पाने और समझने का रास्ता शब्द और उसमें निहित अर्थ का ही है। शैली-विज्ञान' कविता के इस 'अबौद्धिक कथ्य' और 'शाब्दिक प्रत्यय' के संबंधों का ही विश्लेषण प्रस्तुत करता है और यह देखने का प्रयत्न करता है कि

शाब्दिक प्रत्यय का रूपांतरण किन स्थितियों में और किन माध्यमों द्वारा 'अबौद्धिक कथ्य' में हो जाता है। विश्लेषण की इस प्रक्रिया का आधार वहाँ भाषा के विभिन्न कार्यफलन और काव्य-भाषा की संघटना होते हैं और ये दोनों मूलतः भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के भीतर आते हैं: अतः शैली-विज्ञान को भाषा-विज्ञान का ही एक अंग माना जा सकता है, जहाँ विश्लेषणात्मक प्रणाली भाषा-वैज्ञानिक है, पर जिसकी विश्लेषणात्मक सामग्री भाषा का सामान्य रूप न होकर उसका विशिष्ट साहित्यिक पक्ष होता है और जहाँ भाषा के उस विशेष कार्यफलन को केंद्र बनाया जाता है जिसके सहारे कवि शब्दों के साथ बँधे बौद्धिक प्रत्यय का रूपांतरण अबौद्धिक कथ्य में करने में समर्थ सिद्ध होता है।

———

परिशिष्ट–2

भाषा वैज्ञानिक दृष्टि और आलोचना की नयी भूमिका

'भाषा के काव्य-फलन के प्रति बधिर भाषा-वैज्ञानिक और भाषा-वैज्ञानिक समस्याओं से उदासीन एवं भाषा-वैज्ञानिक प्रणालियों से अपरिचित साहित्यशास्त्री, दोनों ही समान रूप से अपने समय से बहुत पीछे हैं।'

—रोमन याकोब्सन : भाषा-विज्ञान और काव्यशास्त्र

आज के आलोचना-साहित्य को देखने-पढ़ने के बाद इसमें संदेह नहीं रह जाता कि साहित्य का अध्ययन करने वाले मर्मज्ञ समीक्षक और भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले विद्वान् भाषा-वैज्ञानिक, एक दूसरे के दायित्व-क्षेत्र से बहुत दूर जा छिटके हैं। साहित्यिक आलोचक और भाषा-वैज्ञानिक के बीच संवाद की कोई स्थिति ही नहीं दिखलाई पड़ती। हिंदी भाषा और साहित्य के संदर्भ में तो इनके बीच इतनी गहरी खाई आ चुकी है कि अगर कोई साहित्य का क्षेत्र अपना लेता है तो भाषा-विज्ञान का सामान्य ज्ञान भी उसे अनावश्यक बोझ प्रतीत होता है और अगर कोई अपने कार्य-क्षेत्र के रूप में भाषा-विज्ञान को स्वीकार कर बैठता है तो बोलचाल की भाषा से असंबद्ध होने के कारण साहित्य को अपनी सीमा में अपनाने से ही इनकार कर बैठता है। हिंदी के एक ओर साहित्य के ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने साहित्य-सिद्धांत पर बहुत कुछ लिखा है पर अपनी आलोचना एवं विवेचना में भाषा-वैज्ञानिक उपलब्धियों का कुछ भी न तो उपयोग किया और न उसके आधार पर आलोचना को वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया तो दूसरी ओर ऐसे भाषाविद् हैं जिन्होंने भाषा की रूप-प्रकृति को समझने-समझाने का तो प्रयत्न किया, पर उस ज्ञान का उपयोग साहित्यिक रचनाओं के अध्ययन-विश्लेषण के निमित्त नहीं किया। एक ही 'अनुशासन' के भीतर से 'दो संस्कृतियों' के बीच की बढ़ती खाई की समस्या का प्रश्न अगर विचारणीय है तब भाषा और साहित्य के अध्ययन-क्षेत्र के दुराव का प्रश्न आज सबसे अधिक हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

इस दुराव का कारण हिंदी के विद्वानों का अपना प्रमाद और अज्ञानता ही है। साहित्यकार यह भूल जाता है कि साहित्य के संदर्भ में वह जिन आंतरिक मूल्यों एवं रसानुभूति की चर्चा उठाता है उसको अभिव्यक्ति का माध्यम एकमात्र भाषा का विशिष्ट प्रयोग ही है। इसमें संदेह नहीं कि अगर साहित्य से भाषा का आधार हटा

दीजिए तो रचना का पूरा प्रासाद ही भरभरा कर नीचे आ गिरेगा । मौखिक साहित्य में यह स्थिति अत्यंत स्पष्ट है । लिखित साहित्य में टाइपोग्राफी का प्रयोग प्रभावोत्पादकता के लिए किया जाता है पर संपूर्ण रचना को ध्यान में रखने पर भाषा की अपनी शैली की तुलना में उसका महत्व नहीं के बराबर प्रतीत होता है । इसी प्रकार भाषा-वैज्ञानिकों के हाथ से यह बात छूट जाती है कि उनका कार्य-क्षेत्र किसी भाषा के बोलचाल के रूप के अध्ययन-विश्लेषण तक ही सीमित नहीं होता । भाषा का प्रत्येक रूप और उसकी प्रत्येक शैली उनके अध्ययन की तथ्य-सामग्री हो सकती है और साहित्यिक भाषा, किसी भाषा की एक विशिष्ट बोली (डायलेक्ट) के अतिरिक्त और कुछ नहीं । अगर साहित्यिक भाषा, बोलचाल की भाषा की ही एक शैली-विशेष है और भाषा-विज्ञान का क्षेत्र भाषा के प्रत्येक रूप के अध्ययन को अपने भीतर समेटता है तो इसमें संदेह नहीं कि साहित्य का अध्ययन भी भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से करना संभव है । यह बात दूसरी है कि इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य होना अभी बाकी है ।

दृष्टि, कार्य-प्रणाली और पारिभाषिक शब्द प्रयोगों में विभिन्नता होते हुए भी साहित्यिक आलोचना और भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन में कुछ स्तरों पर समानता और लक्ष्य में एकरूपता देखी जा सकती है । उदाहरण के लिए, अगर हम तुलसी-साहित्य की आलोचना अथवा उनके साहित्य के भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन की ओर प्रवृत्त होते हैं तो दोनों ही स्थितियों में पहले हमारी दृष्टि उनकी रचनाओं की पाठ-सामग्री पर पड़ती है । पर दोनों ही स्थितियों में 'पाठ-सामग्री' का विवेचन, अध्ययन का अंतिम लक्ष्य नहीं बनता । आलोचक और भाषा-वैज्ञानिक, दोनों ही 'पाठ-सामग्री' के भीतर निहित 'पैटर्न' और 'संघटना (स्ट्रक्चर)' को ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं, दोनों ही 'संघटना' का निर्माण करने वाले अंगों में विभिन्न स्तरों पर पाये जाने वाले अंतस्संबंधों का पता लगाने की कोशिश करते हैं ! साहित्यिक और भाषा-वैज्ञानिक पैटर्न का योग साहित्यिक कृति में कुछ इस प्रकार रहता है कि दोनों एक दूसरे के समरूप न होकर भी एक दूसरे के संरचना के पूरक के रूप में सिद्ध रहते हैं । एक दूसरे के पूरक (कम्प्लीमेंटेशन) की स्थिति ने आज के विद्वानों को यह भली भाँति बता दिया है कि एक के अभाव में दूसरे का उचित ज्ञान संभव ही नहीं ।

खेद की बात है कि साहित्य-शास्त्र के अंतर्गत शैली के संदर्भ में अगर भाषा-शैली का विवेचन हुआ भी, तो उसे मात्र साहित्यिक भाषा की शैली तक ही सीमित रखा गया । साहित्यिक भाषा और उसकी शैली पर ही केवल अपना ध्यान केंद्रित करने वाले आलोचकों ने साहित्यिक भाषा को एक स्वतंत्र इकाई के रूप में मान्यता दी । वे भूल गये कि साहित्यिक भाषा, बोलचाल की सामान्य जीवंत भाषा का ही एक विशेष रूप है अतः उसको समझने के लिए आवश्यक है कि उसे बोलचाल की भाषा के संदर्भ में देखा जाये । उदाहरण के लिए, हम कविता की ही भाषा को लें । निश्चय ही कविता में प्रयुक्त भाषा का वाक्य-गठन सामान्य भाषा में प्रयुक्त वाक्य-गठन

के 'स्ट्रक्चर' से भिन्न होता है। अगर व्याकरण की दृष्टि से देखें तो कई स्तरों पर काव्य-भाषा, उस भाषा के सामान्य नियमों का अतिक्रमण करती पायी जाती है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि काव्य-भाषा का अपना वाक्य-गठन होता है, उसकी भाषा का अपना स्ट्रक्चर होता है। पर इस वाक्य-गठन और काव्य-भाषा के अन्य स्तरों पर पाये जाने वाले 'स्ट्रक्चर' को क्या हम एक 'नयी' भाषा का रूप-विधान मान लें? काव्य-भाषा के रूप-विधान को सामान्य भाषा के 'नार्म' से हटी शैली के रूप में देखना क्या उचित नहीं होगा? क्या काव्य-भाषा का 'पैटर्न' सामान्य भाषा के 'पैटर्न' की ही एक विशेष स्थिति में, विशेष प्रभाव के लिए प्रयुक्त 'उपश्रेणी' नहीं है?

अगर यह सही है कि साहित्यिक भाषा का 'पैटर्न' वस्तुतः एक विशेष लक्ष्य-सिद्धि के लिए प्रयुक्त सामान्य भाषा के 'नार्म' की ही एक 'उपश्रेणी' है तब इसमें संदेह करने का कोई कारण नहीं कि भाषा के स्तर पर साहित्यिक शैली का विवेचन मात्र साहित्य तक सीमित नहीं किया जा सकता, उसे सामान्य भाषा के 'पैटर्न' के संदर्भ में ही देखना होगा। भाषा-विज्ञान का प्रमुख क्षेत्र ही भाषा के 'पैटर्न' की खोज है। अब तो यह भी कहा जा सकता है कि आज का भाषा-वैज्ञानिक केवल सामान्य भाषा के ही 'पैटर्न' की खोज नहीं करता वरन् भाषा की उन सभी शैलियों के 'पैटर्न' की खोज को अपना विषय बनाता है जो उस भाषा से किसी न किसी रूप में संबद्ध है। अतः भाषा-विज्ञान ने शैली-विज्ञान की जिस शाखा को अपना अध्ययन-क्षेत्र स्वीकार किया है वह वस्तुतः भाषा की समस्त संभावनाओं एवं अभिव्यक्ति के सभी रूपों को अपने भीतर समाहित करती है। यह बात दूसरी है कि इस क्षेत्र के भीतर आज प्रमुख स्थान साहित्यिक भाषा के शैली-विधान को दिया जा रहा है पर महत्व-पूर्ण तथ्य यह है कि उसका क्षेत्र अब मात्र साहित्यिक भाषा की शैली तक ही सीमित नहीं रह गया है, वह अभिव्यक्ति के स्तर पर भाषा की समस्त संभावना और क्षमता के अध्ययन तक अपना विस्तार पा चुका है।

सच तो यह है कि किसी साहित्यिक कृति के संदर्भ में उसके वस्तु एवं अभि-व्यक्ति पक्ष के अंतस्संबंधों को सही रूप में न समझने के फलस्वरूप ही भाषा की महत्ता का हम ठीक से आकलन नहीं कर पाये हैं, दूसरी बात यह है कि हमारी आलोचनात्मक दृष्टि का सीधा और गहरा संबंध इस तथ्य से भी है कि हम साहित्य को किस रूप में स्वीकार करते हैं। साहित्य के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण, निश्चय ही उसकी आलोचनात्मक पद्धति को प्रभावित करता है। अतः आवश्यक है कि आलो-चनात्मक दृष्टि की विवेचना के पूर्व हम यह देखें कि मोटे तौर पर साहित्य के प्रति आलोचकों की अपनी धारणा क्या रही है। इस धारणा का सीधा संबंध साहित्य के रूप-गठन संबंधी मान्यता से है और इसी रूप-गठन का मुख्य आधार है साहित्य का अभिव्यक्ति पक्ष, जिसका साँचा भाषा के आधार पर निर्मित होता है।

उदाहरण के लिए, आलोचकों का एक समुदाय साहित्य का संबंध सीधे लोक-जीवन के अनुभवों के साथ जोड़ता है। इनकी मान्यता है कि 'काव्य-दृष्टि कहीं तो 1. नरक्षेत्र के भीतर रहती है, 2. कहीं मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और 3. कहीं समस्त चराचर के।' (शुक्ल : 8) अर्थात् साहित्य और कुछ नहीं, जीवन एवं प्रकृति की वास्तविकता पर घनीभूत के उद्घाटन का माध्यम है। इस मान्यता के अनुसार साहित्य की लक्ष्य सिद्धि स्वयं साहित्य के भीतर निहित नहीं रहती। साहित्य तो मात्र एक माध्यम है एक विशेष लक्ष्य-सिद्धि का, भले ही वह सिद्धि 'हृदय प्रसार' हो, 'लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा' हो अथवा 'अनुभवों के प्रति संतुलित वृत्ति का निर्माण' हो। आलोचकों का दूसरा समुदाय साहित्य को प्रतीकों के आपसी आत्यंतिक संबंधों के आधार पर गठित सौंदर्यशास्त्रीय संघटना की अपने में ही पूर्ण एक स्वतंत्र इकाई के रूप में अपनाता है। 'काव्य में विषय से अधिक टैकनीक पर ध्यान देने की आवश्यकता को जब अनुभव किया गया' तो वस्तुतः इस दिशा में प्रयोगकर्ता कवि को तमाम उसकी उद्घोषणाओं के बावजूद मात्र 'राही अथवा राहों के अन्वेषी' मान लेना उनकी साहित्यिक प्रक्रिया की सही भूमिका से इनकार करना होगा। वस्तुतः वे इसके द्वारा कृति में अपना नया अर्थ भरने का प्रयत्न कर रहे थे। कहाँ तक अपनी लक्ष्य-पूर्ति में वे सफल हो सके, यह बात दूसरी है। नया आलोचक वस्तुतः 'अपने नये अर्थ' को साहित्य के दायरे के भीतर ही पाना चाहता था। वह साहित्य को मात्र माध्यम नहीं मानता था, साहित्यिक कृति उसके लिए साहित्य के बाहर स्थित लक्ष्य-सिद्धि का कोई उपकरण—भले ही वह कितना ही विशिष्ट क्यों न हो—नहीं रहा। इन नये आलोचकों के अनुसार साहित्य की सिद्धि, आत्यंतिक मूल्यों (टर्मिनल वैल्यूज़) की अलग, विशिष्ट और अपने में पूर्ण संसार की सृष्टि है। वास्तविक संसार और आत्यंतिक मूल्यों के सहारे निर्मित संसार दो भिन्न इकाइयाँ हैं। पहले संसार का अनुभव-बोध हमें भाषा के सामान्य प्रयोग द्वारा होता है जबकि आत्यंतिक मूल्यों के सहारे निर्मित संसार, पूरा का पूरा साहित्यिक कृतियों के दायरे में बँधे होने के कारण भाषा की एक विशिष्ट (साहित्यिक) शैली के माध्यम द्वारा हो जाना-पहचाना जा सकता है।

साहित्य-संबंधी इन दो आलोचनात्मक दृष्टियों के आधार पर कविता की भाषा की कार्य-सिद्धि पर भी प्रकाश डाला जा सकता है। जो आलोचक, कविता की लक्ष्य-सिद्धि को स्वयं कविता के बाहर मानते हैं उनके लिए कविता की भाषा खिड़की के उस पारदर्शी शीशे के समान है जिसके सहारे वे बाह्य जीवन को देखते, समझते और उसका अनुभव करते हैं। पर जो कविता की लक्ष्य-सिद्धि को स्वयं कविता के भीतर ही स्थित मानते हैं उनके लिए कविता की भाषा विभिन्न कोणों के काटे गये दर्पण के उस 'सेट' के समान है जिनमें बाह्य जीवन की प्रतिच्छवि एक गुणात्मक भेद के साथ अनंत रूप से उसमें प्रतिबिंबित होती रहती है पर अंततः प्रतिच्छवि होने के कारण, उसके यथार्थ की सत्ता उसी दर्पण में ही बँधी होती है।

साहित्य-संबंधी इन दो मान्यताओं में सामंजस्य स्थापित करने वाला आलोचकों का एक तीसरा समुदाय भी है जो साहित्य की भाषा को एक साथ 'दर्पण का सैट' और 'खिड़की का पारदर्शी शीशा' दोनों ही स्वीकार करता है। साहित्यकार, शैली-निर्माण की दृष्टि से तो शब्दों का नियोजन विभिन्न कोण से काटे गये दर्पण की एक विशेष व्यवस्था एवं क्रम के रूप में करता है पर सृजनात्मक प्रक्रिया के संपन्न होते-होते दर्पण का यह सैट साहित्यिक रचना और बाह्य जीवन के संदर्भ में अंततः खिड़की के पारदर्शी शीशे में बदल जाता है। इस तीसरे मत के समर्थक हैं—मुरे क्रेयगर (1964:3), जिनकी धारणा है कि साहित्य की भाषा को, खिड़की का पारदर्शी शीशा और 'दर्पण का सैट' मानने वाली पद्धतियाँ क्रमशः पूर्व-नव्य समीक्षा (प्रिन्यू क्रिटिसिज्म) और 'नव्य-समीक्षा' की आलोचना-प्रणाली से संवद्ध हैं जबकि उनकी पद्धति अत्याधुनिक है और वह 'नव्य-समीक्षा' से आगे की प्रणाली का विकास करती है।

ध्यान देने की बात है कि क्रेयगर प्रभृति विद्वान् आलोचक यह भूल जाते हैं कि कोई वस्तु 'क्या है' और वह कौन सा 'कार्य संपादित करती है' आपस में संबद्ध होते हुए भी दो विभिन्न क्षेत्रों के प्रश्न हैं। 'क्या है'—प्रश्न, वस्तु की अपनी बनावट और संरचना के उत्तर की अपेक्षा रखता है जबकि 'कार्य-संपादन' उस वस्तु की कार्यक्षमता (पौटेन्शयैलिटी) पर आधारित होता है। यह ठीक है कि वस्तु की कार्यक्षमता को सीमा वस्तु की संरचना से सीधे संबधित है, पर वस्तु अपने में एक स्वतंत्र इकाई होती है जबकि वस्तु का उपयोग करने वाला, उस वस्तु से भिन्न दूसरी इकाई होता है जो उन तमाम संभावनाओं का पता लगाने के लिए स्वतंत्र है जो वस्तु अपनी विशेष संरचना के कारण उसे प्रदान करता है। इसी संभावना के आधार पर वह उसकी कार्य-क्षमता का पता लगाता है और अपनी आवश्यकता के अनुसार किसी विशेष दिशा में उसका उपयोग करता है। (ध्यान दें, मैंने वस्तु के उपयोग की बात न उठाकर उसकी कार्यक्षमता की चर्चा उठाई है।) उदाहरण के लिए 'अणु' (एटम) क्या है ? इस प्रश्न का संबंध अणु की संरचना से है। अणु की संरचना का ज्ञान उसकी कार्यक्षमता का पता तो देता है पर किसी विशेष दिशा में उसका प्रयोग—अणु-बम ऐसे घातक शस्त्र भी बने हैं और शांति-दूत के रूप में उसके सहारे एलेक्ट्रानिक यंत्र भी—किसी अन्य के माध्यम से होता है। जिस प्रकार विज्ञान का अपना क्षेत्र, 'अणु' की संरचना और उसकी कार्यक्षमता तक ही सीमित है अर्थात् वह अपने क्षेत्र में रखकर केवल इसी प्रश्न के उत्तर को देना उचित समझता है कि वस्तु क्या है, ठीक उसी प्रकार साहित्य की आलोचना का अपना क्षेत्र भी वस्तुतः कृति की संरचना एवं कार्यक्षमता को लेकर है, न कि वह वस्तु क्या करती है अथवा उस वस्तु का उपयोग क्या है।

इस दृष्टि से देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि जो आलोचक साहित्य अथवा उसकी भाषा को 'पारदर्शी शीशे' के समान मानते हैं, जिसके माध्यम से हम बाह्य

जीवन और जगत को और भी गहराई से देखने में सफल होते हैं वस्तुतः 'वस्तु (साहित्य) क्या है' के प्रश्न के उत्तर न देने के कारण वे साहित्य के अपने क्षेत्र से बाहर चले जाते हैं और उनकी आलोचना भी साहित्येतर हो उठती है। और यही कारण है कि आलोचना के आगे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक आदि विशेषण लगाने की उन्हें आवश्यकता प्रतीत होती है। (यहाँ पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि 'रस' को लेकर साहित्य की जो आलोचना की जाती है वह भी साहित्येतर आलोचना है क्योंकि वह भी कृति की संरचना अथवा कार्यक्षमता के विवेचन को अपना आधार नहीं बनाती वरन् कृति के 'उपयोग' को अपनी दृष्टि में रखकर साहित्य का मूल्यांकन करती है।) और जो आलोचक, साहित्य और भाषा को एक साथ 'पारदर्शी शीशा' और 'दर्पण का सेट' दोनों स्वीकार करते हैं—उनके सामने कृति की संरचना और उस कृति के उपयोग का भेद स्पष्ट नहीं होता और न वे साहित्य की 'कार्यक्षमता' और उसके उपयोग में ही सूक्ष्म अंतर स्थापित कर पाते हैं।

[2]

अगर साहित्य की आलोचना का अपना क्षेत्र साहित्यिक रचनाओं की संरचना और उस संरचना के संदर्भ में उसकी कार्यक्षमता को समझने और पता लगाने तक सीमित है तो निश्चय ही आलोचना को जिस कार्य-प्रणाली को अपनाना होगा उसका स्वरूप विवरणात्मक और संघटनात्मक (स्ट्रकचरल) होगा। विवरणात्मक पद्धति द्वारा आलोचक संरचना का विवरण प्रस्तुत करेगा और संघटनात्मक पद्धति द्वारा उस संरचना के भीतर 'पैटर्न' को ढूँढ़ कर उसकी कार्यक्षमता की ओर संकेत देगा। आज के भाषा-विज्ञान को सबसे बड़ी उपलब्धि वस्तुतः भाषा-विश्लेषण के संदर्भ में व्याकरण के नियम-निर्देशात्मक (प्रेस्क्रिप्टिव) के स्थान पर उसके विवरणात्मक और संघटनात्मक पद्धति को विकसित करने में है। जो पद्धति सामान्य भाषा के विश्लेषण के लिए प्रयुक्त होगी, कार्य-प्रणाली के रूप में वह भाषा के साहित्यिक रूप पर भी लागू की जा सकती है और अगर प्रणाली वैज्ञानिक है तो निश्चित ही उसका विस्तार शैली के हर क्षेत्र तक संभव हो सकता है। 'कार्य-प्रणाली' के रूप को लेकर साहित्य-विश्लेषण के क्षेत्र में भाषा-विज्ञान की यह महत्वपूर्ण देन है।

शैली और संघटना में दो ऐसे मूल प्रत्यय हैं जो भाषा-विज्ञान और साहित्यिक आलोचना को संधि-स्तर पर ला खड़ा करते हैं। दोनों क्षेत्र अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि किसी वस्तु चाहे वह भाषा हो अथवा साहित्य, की संघटना कुछ मूल तथ्यों (आइटम्ज) के सामान्य समूह से कहीं कुछ भिन्न अर्थ रखती हैं। दोनों अपनी विषय वस्तु अथवा कविता, को मूलतः 'गेस्टाल्ट्' की एक विशेष विधा के रूप में ग्रहण करते हैं। इस विधा के निर्माण में कुछ भौतिक तथ्यों (फिजिकल आइटम्ज) का योग रहता है और जो आपस में स्थिर अंतस्संबंधों की एक विशेष पद्धति में इस प्रकार बँधे होते हैं कि उस पद्धति से हटकर जब वे भौतिक तथ्य संयुक्त होते हैं तब पहले की 'पूर्ण

इकाई' का स्वरूप बदल जाता है अथवा वह इकाई ही टूट कर छिन्न-भिन्न हो जाती है। यह स्थिति जितनी वाक्य पर लागू होती है उतनी ही कविता पर। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री हॉकेट का तो यहाँ तक कहना है कि विश्लेषण की जिस प्रक्रिया और पारिभाषिक शब्दों के जिस प्रत्यय-बोध को छोटे स्तर पर भाषा-वैज्ञानिक अपनाता है, इस दिशा में उसका उपयोग अब साहित्यिक आलोचक भी संघटना के बड़े स्तर पर करने लगा है। लेकिन इसके बावजूद स्थिति यह है कि इन दो विषय-वस्तुओं—भाषा और साहित्य, वाक्य और कविता—के संधि क्षेत्र का अध्ययन अभी नहीं के बराबर हुआ है।' (हॉकेट, 1958:557)

उक्त कथन प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक हॉकेट का है जिन्होंने भाषा और साहित्य के संधि-क्षेत्र के अध्ययन की प्रगति पर सन् 1958 में अपना वक्तव्य दिया था। पर इस बीच उक्त क्षेत्र को लेकर कम से कम 300 स्वतंत्र निबंध अब तक मात्र अँग्रेजी भाषा में प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त कई लेख रूसी, चैक, जर्मन और फ्रेंच भाषाओं में भी मुझे देखने को मिले। स्वतंत्र निबंधों के अतिरिक्त मोनोग्राफ और पुस्तकों के रूप में भी इस दिशा में विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है। ध्यान देने की बात है कि ये सभी विवेचन मात्र सैद्धांतिक नहीं। व्यावहारिक रूप में एमिली डिकिन्सन (रलाख, 1963), सैमुएल जान्सन (विन्सैंट, 1963), लिओ तालसताय की (लैस्सकिस 1962) साहित्यिक रचनाओं के विश्लेषण के रूप में प्रयुक्त भी हो चुकी है। ब्राउनिंग की प्रसिद्ध छोटी कविता—'पीपा पासेस' का संघटनात्मक विश्लेषण, उस कविता के सौंदर्य के उद्घाटन में कितना सहायक हो सकता है—इसका परिचय ए० ए० हिल (1956:51-56) द्वारा की गई उसकी विवरणात्मक आलोचना से जाना जा सकता है।

जहाँ तक शैली का प्रश्न है—भाषा-वैज्ञानिक आलोचना एक व्यापक स्तर पर उसे ग्रहण करती है। शैली भाषा का मात्र अलंकरण नहीं। यह ठीक है कि शैली, अभिव्यक्ति की एक प्रणाली है पर उसे यह कह कर कि वह साधन है, साध्य नहीं अथवा अर्थ के निकल जाने के पश्चात् जो 'तत्व' भाषा की सजावट के लिए शेष बचता है उस रूप में ग्रहण कर, वस्तुतः शैली के मूल प्रयोजन से ही हम अलग हट जाते हैं! उदाहरण के लिए हम अलंकार को ही लें जो शैली का एक विशिष्ट अंग है। (ध्यान रहे स्वयं शैली नहीं)। शुक्ल जी का कथन है कि 'अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हो (जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि में) चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में (जैसे, अप्रस्तुत प्रसंशा, परिसंख्या, व्याजस्तुति, विरोध इत्यादि में) चाहे वर्ण-विन्यास के रूप में (जैसे अनुप्रास में) लाए जाते हैं वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष के साधन के लिए।' एक दूसरे स्थल पर वे अपनी बात को और भी स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—'किसी वस्तु-विशेष से किसी अलंकार-

प्रणाली का संबंध नहीं हो सकता। किसी तथ्य तक वह परिमित नहीं रह सकती। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं, रस व्यवस्था का विषय है।' और अब यह स्पष्ट हो चुका है कि अलंकार प्रस्तुत या वर्ण्य वस्तु नहीं, बल्कि वर्णन करने की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने का खास-खास ढंग हैं।

स्पष्ट है कि शुक्ल जी वर्णन करने की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ अथवा कहने के ढंग को विषय-वस्तु के साथ जोड़कर नहीं देखना चाहते। लेकिन शैली के संदर्भ में जिस अभिव्यक्ति-भेद को शैली-विज्ञान अपने सामने रखता है—उसे वह विषय-वस्तु अर्थात् 'अर्थ' से असंपृक्त कर नहीं देखता। शैली वस्तुतः अर्थ-विस्तार की सूक्ष्म मर्यादा का निर्माण करती है, वह टेक्सचर अथवा मुख्यार्थ के साथ एक गौण अर्थ का सृजन करती है। शैली का अध्ययन केवल अभिव्यक्ति के स्तर पर करना उचित नहीं। उसे 'अण्डरटोन' की तरह प्रतिध्वनित 'द्वितीय अर्थ' के रूप में भी मानना होगा अन्यथा साहित्य के अनिवार्य तत्व के रूप में उसकी सत्ता संदिग्ध ही मानी जायेगी (बर्डसले, 1958)। जब हम भाषा-शैली की चर्चा उठाते हैं तब यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हम भाषा की अभिव्यक्ति प्रणाली की ओर संकेत दे रहे हैं जो शब्दों के माध्यम से 'क्या' कहा जा रहा है के साथ संघटनात्मक स्तर पर पूरी तरह से गुँथा होता है। विंसैंट का तो यहाँ तक कहना है कि 'भाषा शैली का मुख्य क्षेत्र 'अर्थ' ही है लेकिन इस दिशा में अर्थ के दो विशिष्ट स्तरों को ठीक से पहचान लेना चाहिए—प्रमुख अर्थ और फिर छाया अथवा 'इको' की तरह ध्वनित द्वितीय अर्थ (विंसैंट, 1958:201-2)।' शैली का संबध वस्तुतः इस दूसरे स्तर के अर्थ से रहता है।

अगर वर्णन करने की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ, अर्थ के स्तर पर वस्तु-पक्ष के साथ इस प्रकार गुंफित रहती हैं कि वे द्वितीय अर्थ (सेकण्डरी मीनिंग) को छाया के साथ उद्भासित करती हैं, तब स्पष्ट है कि अर्थ के इस अण्डरटोन 'गूँज' को जानने-पहचानने का रास्ता अभिव्यक्त प्रणाली की संघटना का ही हो सकता है। उदाहरण के लिए कविता की शैली-विधा को ही लें, जहाँ 'अण्डरटोन' का व्यापक प्रसार रहता है। आखिर कवि इस 'अण्डरटोन' की सृष्टि कैसे करता है? अथवा पाठक इसका पता कैसे पाता है? निश्चय ही कविता में प्रयुक्त भाषा संघटना के माध्यम से। कविता में भाषा का स्वरूप ठीक वैसा ही नहीं रहता जैसा भाषा के बोलचाल के सामान्य रूप में। पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि कविता की भाषा के स्वरूप को समझा किस आधार पर जाये? अगर हम यह मानते हैं कि कवि, एक विशिष्ट भाषा-शैली का प्रयोग करता है तब उसकी 'विशिष्टता' को किसी 'सामान्य' के अतिक्रम के रूप में ही तो परखा जा सकता है। 'विशिष्ट' और 'सामान्य' सापेक्षिक प्रत्यय हैं और 'सामान्य' का परिचय सहज-साध्य है अतः 'विशिष्टता' को 'सामान्य' के संदर्भ में ही देखकर समझा जाना अपेक्षित है।

भाषा का सामान्य रूप बोलचाल की भाषा होती है अतः कविता की भाषा-शैली की विशिष्टता को सामान्य बोलचाल की भाषा के 'स्ट्रक्चर' अतिक्रम (डिविएशन) के रूप में ही देखना होगा। अरस्तू ने बहुत पहले कविता के अधारभूत तत्व के रूप में इस अतिक्रम (डिविएशन) की ओर संकेत दिया है। प्राग स्कूल ने इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण अध्ययन पिछले दशक में प्रस्तुत किया है। लेविन (1965, 225–37) तो इस अतिक्रम को कविता के बाह्य और आंतरिक, दोनों ही स्तर पर स्वीकार करते हैं। पर प्रश्न तो यह है कि कविता के इस अतिक्रम को समझने की कोई भाषा-वैज्ञानिक पद्धति भी है ? कविता की विशिष्ट भाषा-शैली भाषा के सामान्य स्ट्रक्चर में भली भाँति बँध नहीं पाती और उससे अलग एक अन्य स्ट्रक्चर का निर्माण करती है—तो उसको समझा कैसे जाये ? अगर हम यह कहें कि कविता की भाषा का अपना स्ट्रक्चर होता है जो सामान्य भाषा के व्याकरण की परिधि के बाहर है—और फिर यह मान लें कि व्याकरण का अतिक्रमण करने के लिए कवि को छूट है—तो वस्तुतः हम प्रश्न और उत्तर को एक गोलाई में घुमा कर इस प्रकार उन्हें आमने-सामने खड़ा कर देते हैं कि हर उत्तर फिर अपने लिए स्वयं प्रश्न बन जाता है।

इस समस्या का समाधान करने की कोशिश चॉम्स्की (1956) और उनके सहयोगियों ने की है। कविता की भाषा-शैली को समझने के लिए उन्होंने व्याकरणिकता के स्तर-भेद की कल्पना को सामने रखा उदाहरण के लिए हिंदी के निम्नलिखित वाक्यों को लीजिए।

1. (अ) लड़का अँधेरे से डरता है।
   (आ) अँधेरा लड़के से डरता है।
2. (अ) अँधेरा लड़के को डराता है।
   (आ) लड़का अँधेरे को डराता है।

पढ़ते ही स्पष्ट अनुभव होता है कि 1 और 2 का (अ) वाक्य, उसके (आ) की तुलना में अधिक व्याकरण-सम्मत है यद्यपि वाक्य-गठन की दृष्टि से दोनों हिंदी के अपने पैटर्न के अनुरूप हैं। उदाहरण के लिए क्रम 2 का (अ) और (आ) दोनों हिंदी के कर्ता+कर्म+क्रिया के अनुसार गठित हैं। लेकिन व्याकरणिक सघनता की भावना को हम कहीं अधिक स्पष्ट कर सकते हैं अगर संज्ञा को हम प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक, दो समूहों में विभाजित कर उसकी अन्विति क्रिया के रूप-भेद से जोड़ें। उदाहरण के लिए एक तरफ तो हम संज्ञा को लड़का (प्राणिवाचिक) और अंधेरा (अप्राणिवाचक) विभाजित कर दें और दूसरी ओर 'डर' के दो रूप डरना (अकर्मक) और डराना (सकर्मक) में बाँट दें। (हिंदी में 'डरावना' के रूप में प्रेरणार्थक क्रिया का भी प्रयोग होता है)

संज्ञा { प्राणिवाचक-संज्ञा 1
       { अप्राणिवाचक-संज्ञा 2

क्रिया {अकर्मक-क्रिया 1
सकर्मक-क्रिया 2

हिंदी का अपना वाक्य-गठन--संज्ञा-फ्रेज+क्रिया-फ्रेज को हम संज्ञा+संज्ञा+क्रिया के पैटर्न पर गठित मान सकते हैं। इस दृष्टि से ऊपर दिये चारों वाक्य समान रूप से व्याकरणिक हैं। पर संज्ञा और क्रिया के ऊपर दिये विभाजन के अनुरूप लिखें तो उसका स्वरूप होगा :

1. (अ) संज्ञा 1+संज्ञा 2+क्रिया 1
   (आ) संज्ञा 2+संज्ञा 1+क्रिया 1
2. (अ) संज्ञा 2+संज्ञा 1+क्रिया 2
   (आ) संज्ञा 1+संज्ञा 2+क्रिया 2

इस दृष्टि से अगर हम 1 और 2 क्रम के (अ) वाक्य को अधिक व्याकरणिक अनुभव करते हैं तब यह कहा जा सकता है कि संज्ञा 1+संज्ञा 2+क्रिया 1 और संज्ञा 2+ संज्ञा 1+क्रिया 2 अधिक व्याकरणिक हैं और उसकी तुलना में संज्ञा 2+संज्ञा 1+ क्रिया 1 और संज्ञा 1+संज्ञा 2+क्रिया 2 क्रम व्याकरणिक। इस फार्मूला को और भी सटीक बनाया जा सकता है अगर हम कुछ और वाक्यों को इस संदर्भ में लें। उदाहरण के लिए इन दो वाक्यों को देखें—लड़का पिता से डरता है, और लड़का माँ को डराता है। पहला वाक्य अकर्मक क्रिया होने के कारण पहले खण्ड और दूसरा सकर्मक क्रिया के प्रयोग के कारण दूसरे खण्ड में रखा जा सकता है। ये दोनों वाक्य व्याकरणिक सघनता की दृष्टि से (अ) श्रेणी के हैं अतः समान फार्मूले को निकालने के लिए इन्हें समान स्तर पर रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए :

1. (अ) $\frac{\text{क}}{\text{संज्ञा 1}} + \frac{\text{ख}}{\text{संज्ञा 2}} + \frac{\text{ग}}{\text{क्रिया 1}}$ (लड़का अँधेरे से डरता है।)
   (ई) संज्ञा 1+संज्ञा 1+क्रिया 1 (लड़का पिता से डरता है।)
2. (अ) संज्ञा 2+संज्ञा 1+क्रिया 2 (अँधेरा लड़के को डराता है।)
   (ई) संज्ञा 1+संज्ञा 1+क्रिया 2 (लड़का माँ को डराता है।)

अगर खंड 1 के (अ) और (ई) के वाक्यों के खाने (स्लॉट) क, ख, और ग को देखें, तो स्पष्ट हो जाता है कि खाना क और ग दोनों समान हैं पर खाना ख में संज्ञा 2 भी आ सकता है और संज्ञा 1 भी। अतः इस स्थान पर मात्र संज्ञा लिखा जाना संभव है। अतः खंड 1 का फार्मूला बनेगा :

संज्ञा 1+संज्ञा+क्रिया 1

इसी प्रकार खंड 2 का फार्मूला होगा :

संज्ञा+संज्ञा 1+क्रिया 2

कविता में अगर वाक्यों का गठन समाचार भाषा के गठन से भिन्न मिलता है (अँधेरा लड़के से डरता है और लड़का अँधेरे को डराता है—ऐसे वाक्य कविता में संभव हैं)

तो उसे सामान्य भाषा के 'नार्म' से अतिक्रम ही कहा जायेगा। इसी प्रकार के वाक्य हैं--पेड़ गीत गा रहे हैं, हवा सीटी बजा रही है, समय भागता है आदि। व्याकरणिक सघनता की दृष्टि से ऐसे वाक्य अपेक्षाकृत कम व्याकरणिक हैं और कविता की भाषा-शैली के स्तर पर भाषा की एक उप-श्रेणी का निर्माण करते हैं। इस उप-श्रेणी को उस भाषा का 'सब-पैटर्न' कहा जा सकता है। ध्यान दें कि ये सब-पैटर्न, वस्तुत: अर्थ-स्तर पर अण्डरटोन की भी सृष्टि करते हैं। अगर ऐसे वाक्यों में अकर्मक क्रिया उद्देश्य के रूप में हमेशा प्राणिवाचक संज्ञा के साथ ही अन्विति स्थापित करती है तब सब पैटर्न में प्राणिवाचक के स्थान पर अप्राणिवाचक संज्ञा का प्रयोग स्वयमेव निर्जीव में सजीव व्यक्तित्व के आरोपण का निमित्त बन जायेगा। साहित्य में मानवीकरण (परसोनीफिकेशन) का सिद्धांत भी यही है। अँधेरा डरता है--वाक्य में डरना क्रिया की अन्विति अँधेरे (अप्राणिवाचक संज्ञा) से है--जबकि हम देख चुके हैं कि सामान्य भाषा के 'नार्म' के अनुसार उसकी अन्विति प्राणिवाचक संज्ञा के साथ होनी चाहिए। पर अगर ऐसा वाक्य कविता में प्रयुक्त होने के कारण भाषा का एक सब-पैटर्न बनाने में सक्षम है तो प्राणिवाचक संज्ञा के स्थान पर प्रयोग करने के कारण मात्र से 'अँधेरे' में सजीव व्यक्तित्व का आरोपण हो जाता है। 'अँधेरा' एक सजीव प्राणी की भाँति सिद्ध हो उठता है जो बच्चे से डरता है। इसमें दोनों भाव निहित हो सकते हैं--अँधेरा, निर्बल प्राणी है जबकि बच्चा, सबल। पर अण्डरटोन के रूप में यह भी ध्वनित होता है कि बच्चा बहुत बहादुर है क्योंकि वस्तुत: डरना तो बच्चे को चाहिए (सामान्य भाषा के रूप में उसका प्रयोग होगा—बच्चा अँधेरे से डरता है) पर वह ऐसा बहादुर है कि न केवल वह नहीं डरता है पर स्वयं जिससे उसे भय खाना चाहिए वह स्वयं उससे डरता है। वाक्य-रचना के आधार पर साहित्यिक विशेषताओं को समझने की दिशा में यह एक दृष्टांत है। वैसे वाक्य-रचना विज्ञान के अतिरिक्त ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान, अर्थविज्ञान आदि कई स्तरों पर भी साहित्यिक विशिष्टताओं का उद्घाटन संभव है।

व्याकरणिक सघनता के सिद्धांत पर भाषा का विश्लेषण करने वाले विद्वान्, कविता की भाषा को किसी कृत्रिम भाषा के रूप में ग्रहण नहीं करते। भाषा का यह रूप भी वस्तुत: भाषा की एक शैली है जो एक विशेष दिशा में एक विशेष सिद्धि के लिए प्रयुक्त होती है। जब वह भाषा की एक शैली है तब उसका अध्ययन भाषा-विज्ञान के क्षेत्र का विषय है। इस आधार पर उनका विश्लेषण, कविता के क्षेत्र में भाषा-विज्ञान का प्रयोग (एप्लीकेशन) नहीं वरन् भाषा-विज्ञान के क्षेत्र का प्रसार है जो भाषा के सामान्य रूप के साथ-साथ कविता की भाषा को भी अपने अध्ययन-क्षेत्र के भीतर अंतर्भुक्त करता है। मातृ-भाषा-भाषी के दैनिक जीवन में प्रयुक्त सामान्य वाक्यों को आधार बनाकर ही किसी भाषा का अब तक व्याकरण लिखा जाता रहा है और इसीलिए साहित्य (कविता) की भाषा को व्याकरणिक नियमों का अपवाद स्वरूप मानकर उसके विश्लेषण की ओर ध्यान नहीं दिया गया। इसका मुख्य कारण

यह रहा है कि कविता की भाषा, सामान्य भाषा के 'नार्म' का अतिक्रम रूप होने के कारण किसी प्रकार सामान्य 'पैटर्न' में ठीक से खप नहीं पा रही थी। उसका अपना अलग ही एक 'पैटर्न था। अगर भाषा के प्रत्यय के रूप में हम उन सभी उच्चारणाओं (अटरेन्सेज) को स्वीकार करेंगे जो उस भाषा के मातृ-भाषा-भाषी विभिन्न कार्य-सिद्धियों के लिए प्रयोग में लाते हैं तब निश्चय ही अब तक का व्याकरण, 'एकरूप स्ट्रक्चर' (यूनीफायेड स्ट्रक्चर) के अनुरूप नहीं। वोयेगलिन (1960) के अनुसार व्याकरण की रूप-प्रकृति सिद्धांततः एक-रूप-स्ट्रक्चर पर आधारित होनी चाहिए और यह तभी संभव है जब व्याकरण अपने क्षेत्र के भीतर अकाव्यात्मक (कैजुअल) वाक्यों के साथ-साथ काव्यात्मक (नॉन-कैजुअल) वाक्यों को भी अपने विश्लेषण का आधार बनाये और इस प्रकार व्याकरण को एकरूप स्ट्रक्चर का रूप दे। एकरूप-स्क्ट्रचर के निर्माण की दिशा में इधर कुछ महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं जिनमें लेविन (1964) और थार्न (1965) का प्रयत्न सराहनीय है।

सवाल यह है कि साहित्य को देखने की भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि क्या है? आज का भाषा-वैज्ञानिक किसी साहित्यिक कृति को किस रूप में स्वीकार करता है? आधुनिक भाषा विज्ञान की पहली मान्यता है कि कोई भी साहित्यिक कृति चाहे वह उपन्यास हो या महाकाव्य अथवा कहानी हो या गीत-काव्य, वस्तुतः उसी भाषापरक उच्चारण अटरेन्सस के दायरे में सीमित रहती है जो मनुष्यों की भाषा का निर्माण करते हैं। इस सीमा-क्षेत्र के भीतर ही कोई कृति अपना जन्म ले सकती है। इसके बाहर न तो उसकी सत्ता होती है और न उसकी संभावना ही है। साहित्य 'शाब्दिक कला' है और उसकी रूप-प्रकृति समझने में उसके 'शाब्दिक' पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अन्य भाषा-क्रिया की भाँति साहित्यिक कृति भी मूलतः भाषा-क्रिया (लेंग्वेज ऐक्ट) है जो अपनी कुछ विशिष्टताओं के आधार पर व्यापक भाषा-क्रिया की एक उप-श्रेणी का निर्माण करती है। अतः भाषा-विज्ञान की दूसरी मान्यता यह है कि जिस प्रकार अन्य भाषा-क्रियाएँ स्वयं में यथार्थ है जिसका अस्तित्व ठोस-रूप बाह्य संसार में रहता है, उसी प्रकार भाषा-क्रिया का ही एक रूप होने के कारण साहित्यिक कृति की भी सत्ता 'ठोस' और 'यथार्थपूर्ण' है जिसका विश्लेषण वैज्ञानिक स्तर पर संभव है। (इस विचार-बिंदु की विस्तृत आलोचना अन्यत्र की जा चुकी है (श्रीवास्तव 1967) इसकी तीसरी मान्यता है कि अगर साहित्यिक कृति ठोस और यथार्थपूर्ण है तो उसकी भी संघटना का पता लगाना संभव है। साहित्यिक आलोचना का वैज्ञानिक अर्थ साहित्य-विश्लेषण है अतः साहित्यिक कृति के 'स्ट्रक्चर' का पता लगाने का अर्थ है उस कृति की संरचना को सही रूप में समझना। इसकी चौथी मान्यता यह है कि साहित्यिक कृति भी व्यापक रूप में भाषा-क्रिया ही है जो अपनी (साहित्यिक) विशिष्टताओं के फलस्वरूप एक उपश्रेणी का निर्माण करती है, अतः इस उपश्रेणी की अपनी विशिष्टताओं का उद्घाटन भाषा-क्रिया के व्यापक रूप के संदर्भ

से ही संभव है । इसकी पाँचवीं प्रमुख मान्यता है (जो ऊपर दी गयी चार मान्यताओं की ही स्वाभाविक परिणति है) कि जब साहित्यिक कृति का विश्लेषण करने के लिए भाषा-वैज्ञानिक प्रवृत्त होता है तो उसके लिए साहित्यिक विशिष्टताओं का ज्ञान आवश्यक है और इसी प्रकार जब आलोचक किसी साहित्यिक रचना के अध्ययन की ओर उन्मुख होता है तो उसे भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली की सही जानकारी भी उतनी ही जरूरी है अर्थात् आज की आलोचना की नयी भूमिका ही ऐसी है जो साहित्यिक आलोचक से साहित्यक विशेषता और भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली, दोनों के ही ज्ञान की समुचित अपेक्षा रखती है ।

———————

परिशिष्ट–3

आलोचना का संरचनावादी दृष्टिकोण

'वाद' के रूप में 'संरचनावाद' आज सैद्धांतिक विचारधारा और तकनीकी विश्लेषण प्रणाली के रूप में पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुका है। इसकी मान्यता आज भाषा सिद्धांत और साहित्यशास्त्र के दायरे के बाहर भी सिद्ध है। चाहे नृतत्व-शास्त्री (लेवी स्टॉस या एडमण्ड लीच) हों अथवा दार्शनिक चिंतक (केसिरर और ज्याँ प्याजा), या फिर वैज्ञानिक (एडिंग्टन या बूरबाकी) विचारक ही क्यों न हों, सभी संरचनावाद को अपनी दृष्टि और अध्ययन प्रणाली के मूल स्रोत के रूप में अपना चुके हैं। अगर व्याप्ति के रूप में इस वैचारिक धारा पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि इसने प्रतीक विज्ञान और संप्रेषण सिद्धांत से अपने को जोड़कर एक ओर कला के अर्थपरक दर्शन को अपने भीतर समेट लिया है और दूसरी ओर रचनात्मक बुनावट की प्रयोजनपरकता की समस्या को अपनी सीमा में ला खींचा है। 'संरचनावाद' आज अपनी अर्थ-संभावना में इतना फैल-बिखर चुका है कि इस शब्द के विभिन्न प्रयोगों एवं संदर्भों के आधार पर इसकी सही प्रकृति को समझना असंभव है।[1]

संरचनावाद की परिभाषा पर बात करते समय उसके एक प्रमुख विद्वान् बार्थ का यह कहना है कि इस शब्द को संस्कृति एवं साहित्य के अध्ययन-विश्लेषण के उस 'प्रणालीगत आंदोलन' तक सीमित कर देना चाहिए जो स्पष्ट रूप से अपनी शक्ति के स्रोत के रूप में भाषाविज्ञान को अपनाने के पक्ष में हैं।[2] सच तो यह है कि दार्शनिक चिंतन और वैज्ञानिक प्रणाली के रूप में 'संरचनावाद' के आविर्भाव की कहानी आधुनिक भाषाविज्ञान के जन्म और विकास के साथ जुड़ी हुई है। संकल्पना के रूप में 'संरचना' शब्द को सैद्धांतिक आधार आधुनिक भाषाविज्ञान के दो प्रमुख विद्वानों—सस्यूर और बादुएन द कुर्तने के सिद्धांतों में मिल चुका था। पर प्रकार्यात्मक रूप में उसकी प्रामाणिक स्वीकृति प्राग स्कूल के 'लिंग्विस्टिक सर्किल' के सदस्यों द्वारा ही मिली जिन्होंने 1929 में प्राग में आयोजित स्लाविक भाषाविदों के प्रथम अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में सम्मिलित रूप से अपनी 'थीसिस' प्रस्तुत की थी। भाषा पर विचार करते समय उन्होंने इस बात पर बल दिया कि किसी (भाषिक) इकाई की संरचना उस इकाई के भीतर पाए जाने वाले 'संबंधों की व्यवस्था' है। भाषा पर विचार करते हुए उन्होंने यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया कि संरचना एक प्रकार्या-

त्मक यथार्थ है जिसकी प्रकृति अमूर्त और संकल्पनात्मक होती है आकृति-रूप (फ़ार्म) और उपादान वस्तु (सब्स्टेन्स) के युग्म को सामने लाकर उन्होंने इस बात को साफ़ करनी चाही कि संरचनात्मक इकाई के संदर्भ में किसी भी 'वस्तु' की मूल प्रकृति रूपात्मक होती है।

रूपात्मक कहने से तात्पर्य यह है कि संरचनात्मक इकाई के रूप में ग्रहीत किसी भी वस्तु को न तो उसके अभिव्यक्तिपरक माध्यम के भीतर समेट कर देखा जा सकता है और न ही उसे व्यष्टिपरक तथ्य के रूप में ग्रहण कर समझा-परखा जा सकता है। उस वस्तु के 'अंतस' को अगर समझना है, उसकी अपनी 'प्रकृति' को अगर पहचानना हैं और उसकी वास्तविक सत्ता को अगर परखना है, तब उसके अध्ययन-कर्ता को एक ओर अभिव्यक्ति माध्यम के 'पार' जाना होगा और दूसरी ओर अपनी दृष्टि को व्यष्टिपरक तथ्यों के सीमित दायरे से बाहर निकाल कर 'व्यवस्था' के स्तर तक ऊपर उठाना होगा। उदाहरण के लिए हम यह कह सकते हैं कि भाषा अपनी मूल प्रकृति में 'रूप' (फ़ार्म) है। इस रूप को भाषा व्यवहार के संदर्भ में हमें अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता पड़ती है। भाषा के संदर्भ में हम अभिव्यक्ति माध्यम के लिए या तो ध्वनि का माध्यम चुनकर उसे 'मौखिक' रूप दे सकते हैं अथवा लेखन का माध्यम अपनाकर उसे लिपिबद्ध कर सकते हैं। पर किसी 'भाव' या विचार' को हम चाहे ध्वनियों के सहारे बोलकर व्यक्त करें अथवा लिपि के सहारे लिखकर, रूप के धरातल पर वह भाषाबद्ध विचार 'एकरूप' ही रहता है। संरचना का संबंध 'रूप' से रहता है अतः अभिव्यक्ति माध्यम के भेद से उसकी संरचना नहीं बदला करती।

जिस प्रकार संरचनावादी दृष्टि ने वस्तुओं को उसके अभिव्यक्ति माध्यम के भौतिक उपादानों से मुक्त कर देखने की मांग की उसी प्रकार उसे व्यष्टिपरक तथ्यों से ऊपर उठाकर निर्विशिष्ट रूप में ग्रहण करने का आग्रह भी किया। सरचना तो मूल्यों प्रकार्यों की एक व्यवस्था है। ये मूल्य हमेशा वस्तुगत इकाइयों के भेदक लक्षणों (डिफ़रेंशियल फ़ीचर्स) के आधार पर अपनी अर्थवत्ता प्राप्त करते हैं। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित दो वाक्यों पर ध्यान दें—(क) श्याम पेड़ काटेगा और (ख) शीला फल खाएगी। व्यष्टिपरक तथ्य के आधार पर ये दो भिन्न-भिन्न वाक्य माने ज़ाएगें पर संरचना के बोधात्मक यथार्थ और प्रकार्यात्मिक रूप के संदर्भ में ये एक हैं, क्योंकि अपने प्रयोजन और प्रकार्य में दोनों ही वाक्य 'कर्ता-कर्म-सकर्मक क्रिया' की संरचनात्मक व्यवस्था के परिणाम हैं इसके विपरीत नीचे दिए गए दो वाक्यों को लें—(च) मोहन घर आएगा और (छ) पत्र घर आएगा। इन दो वाक्यों की संरचना भिन्न हैं क्योंकि संज्ञा के रूप में 'मोहन' जिस प्रकार्य की ओर संकेत दे रहा है उससे भिन्न प्रकार्य की ओर 'पत्र' संकेत दे रहा है। (च) वाक्य में संज्ञा (मोहन) सजीव कर्ता है जो क्रिया (आने के काम) का संपादन स्वयं करने वाला है जबकि दूसरे वाक्य में संज्ञा (पत्र) निर्जीव है अतः आने की क्रिया का संपादन वह स्वयं नहीं करने

वाला है । यह संरचनात्मक प्रकृति का ही अंतर है कि वाक्य (च) की संरचना के विस्तार के रूप में हम यह कह सकते हैं—"मोहन जानबूझकर आज घर नहीं आया" पर वाक्य (छ) के संदर्भ में हम ऐसा नहीं बोल सकते—'पत्र जानबूझकर आज घर नहीं आया ।'

जो स्थिति भाषा और भाषिक इकाइयों की संरचनात्मक व्यवस्था के संदर्भ में देखने को मिलती है, वही कला के संदर्भ में भी देखी जा सकती है । उदाहरण के लिए कला के अन्यतम उदाहरण के रूप में 'ताजमहल' को ही लें । संरचनावादी आलोचक यह कहना चाहेगा कि कलाकृति के संदर्भ में ताजमहल 'रूप' है जो अपनी मूल प्रकृति में निर्विशिष्ट है । इस कलाकृति की अपनी विशिष्टता उसकी अपनी संरचना में है । उसकी रूपात्मक (संरचनात्मक) विशिष्टता अपने अभिव्यक्ति माध्यम में बंधी होकर भी उससे मुक्त है । अगर ऐसा न होता तो हम इस कलाकृति को न तो अलग से चित्रों में बाँध पाते और न ही उसके प्रतिरूप (मॉडल) के रूप में अन्य मूर्तियाँ ही बना पाते । कलाकृति के रूप में ताजमहल संरचना के धरातल पर 'निर्वि-शिष्ट' भी है क्योंकि यह संभव है कि हम उसके अंगों के बीच की व्यवस्था का निर्वाह करते हुए उसकी छोटी-बड़ी-मूर्तियाँ बना लें । चाहे कागज़ पर हम चित्र के रूप में उसे अंकित करें अथवा विभिन्न आकारों की मूर्तियों के रूप में उसको ठोस रूप में ढालें, हम संरचनात्मक विशिष्टताओं के आधार पर उसे 'ताजमहल' के रूप में ही ग्रहण करते हैं । माध्यम भेद या आकार वैभिन्य के बावजूद भी ग्रहीता के लिए ये सभी उदाहरण ताजमहल के ही प्रतिरूप या दृष्टांत हैं । संरचनावादी विचारक के लिए 'ताजमहल' के ये विभिन्न प्रतिफलित रूप ताजमहल के रूप में ग्रहण इसीलिए होते हैं क्योंकि उनकी संरचनात्मक व्यवस्था में एकरूपता है ।

संरचनावादी दृष्टि व्यष्टिनिष्ठ तथ्यों के भीतर से सार्वभौमिकता की खोज को अपना लक्ष्य मानती है, वह वस्तुओं के बाहरी आवरण और सतही व्यवहारभेद के अंदर से उसके उस 'मर्म' को पकड़ना चाहती है जो उसकी वास्तविक पहचान का कारण होता है । उदाहरण के लिए हम किसी 'काव्यकृति' को ही लें । हम किसी 'कविता' का पाठ करते हैं । पर एक व्यक्ति जिस ढंग से उसका पाठ करता है । क्या वैसा ही दूसरा भी करता है ? चाहे कविता का पाठ 'सस्वर' किया गया हो अथवा 'मानसिक' धरातल पर ग्रहण हुआ हो, व्यक्ति, संदर्भ, युग आदि के संदर्भ में भिन्न-भिन्न रूप में ही वह कविता प्रतिफलित होती है । पाठ या अर्थग्रहण के रूप में कविता के ये प्रतिफलित रूप पूर्ण रूप से एकरूप नहीं होते । पर प्रतिफलित रूप की तमाम विभिन्नताओं के बावजूद क्या कविता किसी धरातल पर 'एक' नहीं है ? विसेट और बिअर्ड्सले ने इस प्रश्न को उठाते हुए यह लिखा है कि किसी कविता को दो दृष्टियों के साथ देखा जा सकता है । पाठ और पठन की दृष्टि के संदर्भ में कविता का हर प्रतिफलित रूप अपने में एक

विभिन्न इकाई है क्योंकि यह इकाई, हर दूसरे प्रतिफलित रूप से भिन्न होती है। पर इन विभिन्नताओं के बावजूद भी कविता अपनी मूल प्रकृति में निर्विशिष्ट, समरूपी और विकारहीन रहती है, वह जनसामान्य के लिए एक ऐसी भाषिक वस्तु है—जिसका विभिन्न व्यक्ति परीक्षण कर सकते हैं, अध्ययन कर सकते हैं, और जिस पर निर्भ्रांत ढंग से विचार कर सकते हैं।[3] संरचनावादी आलोचक कविता को न केवल 'भाषिक वस्तु' के रूप में ग्रहण करते हैं वरन् उसके इसी निर्विशिष्ट, समरूपी और विकारहीन स्वरूप को पहचानने और उद्घाटित करने का प्रयत्न करते हैं। कविता की अपरिवर्तनीय (इनवेरिएन्ट) प्रकृति की पकड़ उनका लक्ष्य होता है और उसके कलात्मक प्रकार्य की खोज उनका साध्य बनता है। भाषा से उदाहरण लेकर इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि हम हिंदी के तीन शब्दों का उच्चारण करना चाहें, 'कह, कर और कराना'। इन तीनों शब्दों के पहले अक्षर 'क' में निहित 'अ' के उच्चरित रूप पर ध्यान दें। ये सभी एक दूसरे से नितांत भिन्न हैं, पर यह भिन्नता, भौतिक धरातल पर ही है। जहाँ तक स्वनिमिक प्रकार्य का संदर्भ है; स्वर के ये सभी प्रतिफलित रूप 'अ' के ही विभिन्न रूप माने जाएगें इसको एक ही स्वर के विभिन्न प्रतिफलित रूप जानने का आधार 'अ' का अपना प्रकार्य (फंक्शन) है जो हिंदी भाषा के अन्य स्वरों के संबंधों की व्यवस्था के आधार पर निर्धारित हैं। 'वस्तु' नहीं अपितु 'वस्तुगत संबंध' प्रकार्य का आधार बनता है, 'इकाई' नहीं वरन् 'संरचनात्मक साकल्यता', बोधात्मक यथार्थ का कारण होती है, और बाहरी अथवा सतही लक्षण नहीं बल्कि आभ्यंतर विधान रचनात्मक गुणों का निर्धारक होता है। संरचनावादी विचारधारा की यह मान्यता अन्य आलोचनात्मक धाराओं से उसे अलग करती है। यह दुनिया वस्तुओं से नहीं अपितु उनके बीच पाए जाने वाले संबंधों से बनी है—यह नई धारणा ही वस्तुतः वह दृष्टि है जिसे संरचनावादी दृष्टि का मूलाधार कहा जा सकता है।[4]

यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि संरचना का संबंध किसी भी वस्तु—यथा, साहित्यिक रचना अथवा कलाकृति के साकल्य रूप (आर्गनिक होल) से रहता है। साकल्यता वस्तु के सावयव पक्ष में निहित होती है। वह वस्तु के अंग-अंगी संबंधों की आभ्यंतर संगति से संबद्ध रहती है। उसका विषय क्षेत्र वस्तु की आंगिकता (आर्गेनिसिटी) है। किसी भी रचना के संघटक (उपांग) किसी न किसी एक आंतरिक विधान में बंधे होने के कारण ही संगतिनिष्ठ पूर्णता को जन्म देते हैं। यह इस संपूर्णता का विधान ही है जो अर्थ के धरातल पर संघटकों के उस पूर्ण योग से कुछ अधिक और विशिष्ट अर्थ देने में समर्थ है जो उस संरचना के बाहर रहने की स्थिति में मिलना संभव था। इसीलिए संरचना, अंगों के समग्र योग (एग्रिगेट) से भिन्न चीज़ है।

संरचना अपनी प्रकृति में अमूर्त और संकल्पनात्मक होती है। पर यहाँ यह ध्यान देने की ज़रूरत है कि संरचना स्वयं में प्रेक्षणीय (आब्ज़र्वेबल) नहीं होती।

अगर किसी सावयव वस्तु के संरचनात्मक रूप को पकड़ना है तो हम उसे अपने जैविक नेत्रों द्वारा नहीं पकड़ सकते। उसके लिए हमें बुद्धि और अनुभव की आँखों की सहायता लेनी पड़ती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि संरचना, रूप के धरातल पर स्वयं में प्रेक्षणीय नहीं होती यद्यपि उसका पता प्रेक्षण-प्रक्रिया द्वारा ही संभव है। क्योंकि संरचनात्मक रूप अपनी प्रकृति में संकल्पनात्मक होता है और उस रूप का पता हम केवल प्रेक्षण प्रक्रिया द्वारा ही लगा सकते हैं। इसलिए उसकी हम दो स्थितियाँ देख सकते हैं—भाववादी स्थिति और वस्तुवादी स्थिति।

भाववादी स्थिति के समर्थक विद्वान् यह मानते हैं कि वस्तुओं के अमूर्तीकरण की प्रक्रिया मानसिक होती है अतः इस प्रक्रिया के आधार पर निर्मित रूप की प्रकृति भी आत्मगत है। इस मत के मानने वाले यह स्वीकार करते हैं कि जिस रचनागत संरचना की चर्चा की जाती है वह वस्तुतः प्रेक्षक (आलोचक/पाठक) की वस्तु (कृति) संबंधी वह संकल्पना है जिसके सहारे वह वस्तु की आभ्यंतर प्रकृति को समझना चाहता है। वास्तविकता तो यह है कि अवधारणा के रूप में हम जब किसी वस्तु को मन में ग्रहण करते हैं, तब हम उस वस्तु की रूपात्मक मूर्ति का निर्माण करते हैं। यह मूर्ति, उस वस्तु की प्रतिच्छाया नहीं होती और न ही उसकी हूबहू कोई फ़ोटो ही होती है। वह तो प्रेक्षक और प्रेक्ष्य वस्तु के संबंधों के आधार पर वस्तु का निर्मित रूप है। भाववादी विचारकों के मत में वस्तु की वास्तविक प्रकृति स्वयं उस वस्तु में निहित नहीं होती, वह तो व्यक्ति और वस्तु के संबंधों के बीच स्थित होती है जिसके सहारे हम वस्तुओं के रूप का निर्माण करते हैं और जिसकी संकल्पना के संदर्भ में मन में अनुभव करते हैं।

इसके विपरीत वस्तुवादी स्थिति के समर्थकों के मत में संरचना का केंद्रक प्रेक्षक न होकर स्वयं वस्तु (कृति) होता है। अगर कृति सावयव और संगतिनिष्ठ है तो उसके उपांगों में निश्चित ही अन्वय-संबंधी व्यवस्था होगी। अतः संरचना, कृति की आंगिकता (आर्गनिसिटी) में प्रच्छन्न रूप में निहित रहती है। यह आंगिकता ही कृति को पूर्णता प्रदान करती है। इस संदर्भ मे अमूर्तिकरण, प्रेक्षक की उस मानसिक प्रक्रिया की ओर संकेत देता है जो वस्तु के अपने अभिलक्षणों के प्रयोजनपरक संबंधों के आधार पर रूप का निर्माण करता है। इस दृष्टि के अनुसार किसी वस्तु का वास्तविक रूप उसके प्रकार्यात्मक अभिलक्षणों का ही गुच्छ होता है। अभिलक्षण गुच्छ के रूप में किसी वस्तु को देखना ही उस वस्तु को पारदर्शी बना कर उसकी आभ्यंतर प्रकृति (रूप) को साकार करना है। यही कारण है कि संरचनावादी दृष्टि किसी भी सावयव वस्तु की संरचना और उसके मॉडल के अंतर को भी स्पष्ट कर लेना चाहिए। वस्तु की संरचना प्रच्छन्न रूप से वस्तु में ही निहित होती है। वह वस्तु का अपना गुण है जिसे वस्तु से बाहर कर नहीं देखा जा सकता। पर इस संरचना के आधार पर वस्तु का मॉडल बनाया जाना संभव है। उदाहरण के लिए 'ताजमहल' कृति को ही लें।

ताजमहल, वस्तु जगत की एक ठोस सावयव इकाई है जिसे हम अपनी आँखों से देख सकते हैं और हाथों से स्पर्श कर सकते हैं। सावयव होने के कारण उसकी अपनी एक विशिष्ट संरचना है जो प्रच्छन्न रूप से स्वयं ताजमहल कृति के अपने गुण के रूप में उसमें निहित है। इस संरचना की हम मात्र संकल्पना कर सकते हैं, जिसे देखने के लिए हमें जैविक नेत्र नहीं वरन् बौद्धिक दृष्टि चाहिए। ताजमहल के संरचनात्मक रूप (फ़ार्म) का हम मॉडल बना सकते हैं, जिसे हम छोटी-बड़ी मूर्तियों के रूप में सामने कर सकते हैं। ताजमहल की ये मूर्तियाँ वस्तुजगत का स्वयं ताजमहल नहीं, वरन् उसमें प्रच्छन्न रूप से अंतर्मुक्त संरचनात्मक रूप का प्रतीकीकरण के सिद्धांत के आधार पर बनाए गए 'मॉडल' हैं।

संरचनावाद के प्रतिपादकों ने 'संरचना' और 'रूप' की संकल्पना को दार्शनिक मान्यता के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने इसे जीवन और जगत को समझने के लिए एक 'दृष्टि' के रूप में मानने पर बल दिया है।[5] प्राग स्कूल के एक प्रमुख विद्वान् त्रुबेत्स्कोय ने एक ओर 'संरचना' और 'रूप' को अपने सिद्धांत में पर्यायवाची संकल्पना घोषित किया और दूसरी ओर इसे एक विशिष्ट वैज्ञानिक विचारधारा के रूप में प्रतिपादित किया। उनके अनुसार आज के वैज्ञानिक चिंतन की प्रमुख प्रवृत्ति खंडीय यथार्थ के स्थान पर संरचनावाद और व्यष्टिनिष्ठ तथ्यों के स्थान पर सार्वभौमिकता की प्रतिस्थापना है।[6] 'संरचनावाद भले ही भाषा-वैज्ञानिक चिंतन के संदर्भ में उभर कर सामने आया, पर वाद के रूप में इसका प्रसार बाद में चलकर भौतिकशास्त्र, रसायन शास्त्र, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान आदि विभिन्न विषय क्षेत्रों में फैल गया। केसिरर ने 1945 में प्रकाशित अपने लेख में इस तथ्य की ओर संकेत देते हुए लिखा है कि संरचनावाद कोई एकांतिक धारा नहीं है। वह तो विचार की एक सामान्य प्रवृत्ति है जो गत कुछ दशकों के दौरान प्रायः सभी वैज्ञानिक शोध क्षेत्रों में प्रमुख रूप से उभर आई है।[7]

सिद्धांत और प्रणाली के संदर्भ में संरचनावाद एक आंदोलन की तरह भले ही ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में फैल गया हो, पर साहित्य के भीतर आलोचना की एक नई दृष्टि के रूप में यह फ्रांस में जन्मा और वह भी लेवो स्ट्रास के बाद ही उभरा। इसकी पृष्ठभूमि के रूप में रूसी रूपवादी आलोचना, अमेरिकी नव्य समीक्षा, फ्रांस की पाठ विश्लेषण पद्धति आदि अवश्य कार्य करते रहे, पर एक साहित्यिक धारा के रूप में उसे बार्थ, ग्रीमा, तदोरोव आदि विद्वानों की रचनात्मक दृष्टि का परिणाम ही कहा जा सकता है। आज इस धारा के समर्थकों में कलर, डेरिडा, फ़ाउलर, चैटमैन आदि विद्वानों का एक और नाम लिया जा सकता है तो दूसरी ओर रूसी आलोचक यूरी लोटमान, बोरिस उस्पेंसकी, इवानोव, तोपरोव, यूरी निकोत्सोव आदि का।

इस नई धारा के समर्थकों ने काव्यार्थ को भाषा में रूपांतरित कलात्मक यथार्थ माना पर साहित्य और भाषा के संबंधों के संदर्भ में यह भी कहा है कि साहित्य एक

ऐसा भयानक हथियार है जिसके सहारे भाषा, आत्मघात करती है। 'अर्थ पर बल देते हुए उन्होंने यह माना कि साहित्यिक आलोचना को कलात्मक-कृति में निहित अर्थ के बहुआयामी पक्ष को उद्‌घाटित करना चाहिए न कि उसकी व्याख्या अथवा अन्वयांतर प्रस्तुत करना उसका लक्ष्य होना चाहिए। कलाकृति, अपने रचना-संसार में बाह्‌य संसार को बाँधकर भी उसके 'पार' जाती है क्योंकि वह संसार को अपने सृजन के बल पर रूपांतरित करती है न कि प्रतिबिंबित। इसी प्रकार साहित्य, भाषा में बँधकर भी उसके 'पार' जाता है क्योंकि भाषा उसके लिए मात्र स्थूल माध्यम नहीं। कथ्य की विशिष्टता के लिए उसे भाषा को भी रूपांतरित करना पड़ता है।

यह ठीक है कि संरचनावादी धारा ने सिद्धांत और प्रणाली दोनों के लिए ही अपने को भाषा दर्शन और भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली के साथ बाँधा है, पर इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य को विचार से ओझल कर दिया जाता है--साहित्यिक कृति का भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण स्वयं में संरचनावादी आलोचना नहीं है किसी साहित्यिक कृति का भाषिक विश्लेषण तो मात्र कला-सामग्री का अध्ययन है। साहित्य तो कला-प्रतीक है। प्रतीक के रूप में साहित्यिक अध्ययन को तो रचना की 'अर्थवत्ता' (सिग्निफ़िकेशन) को केंद्र में रखना पड़ता है। यह ध्यान देने की बात है कि कला-सामग्री के स्तर पर जो अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है उसका संबंध काव्यकृति में प्रयुक्त भाषा की व्याख्या एवं विश्लेषण से रहता है। यह काव्यकृति का शुद्ध भाषावैज्ञानिक विश्लेषण है। इस विश्लेषण अध्ययन को संरचनात्मक अध्ययन नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसके सहारे कला-प्रतीक के रूप में कृति की अर्थवत्ता उद्‌घाटित नहीं हो पाती। यह तो मात्र उस कृति में प्रयुक्त भाषा का वाक्य के स्तर पर अध्ययन है। काव्यकृति की कला-प्रतीक के रूप में स्वीकार कर जिस पक्ष का अध्ययन संरचनावादी आलोचना करती है उसका संबंध काव्यकृति के रूपविधान (संरचनात्मक बुनावट) और उसमें आबद्ध काव्य-संसार के साथ रहता है।[8]

संरचनावादी आलोचक, रूपवादी तो हैं पर वह 'कला, कला के लिए' के विचार का समर्थक नहीं। वह रूप सिद्धि को कथ्‌य के विलगाव के साथ देखने के पक्ष में नहीं। काव्यकृति को कला-प्रतीक मानने के कारण वह रचना को कथ्‌य और अभिव्यक्ति की एकीकृत सर्जना मानता है। यही कारण है कि काव्यकृति के व्यापक संदर्भ में जहाँ वह कथ्‌य से रूप के विलगाव का विरोध करता है वहीं वह कथ्‌य से असंपृक्त अभिव्यक्त रूप की भी तीखी आलोचना करने में नहीं चूकता। संरचनावादी आलोचना की प्रमुख विशेषता यह है कि वह 'रूप' को 'कथ्‌य' में रूपांतरित करती है। उसके लिए रूप पर दी गई उक्ति, वस्तुतः कथ्‌यपरक प्रतिज्ञप्ति बन जाती है।[9] इसका कारण यह है कि रूप संबंधी उसकी अवधारणा, 'प्रतीक' की संकलपना को अपना आधार बनाती है। वह प्रतीक के रूप में काव्यकृति को स्वीकार करते हुए पहले कथ्‌य और रूप की अभिन्नता पर बल देती है, फिर 'रूप' को कथ्‌य की यथार्थता

को पकड़ने का साधन और कथ्य को अपनी आंतरिक प्रकृति के प्रकाशन के लिए 'रूप' में बँधने की अनिवार्य नियति के संदर्भ में स्वीकार करती है यहाँ एक बार फिर दुहरा देना असमीचीन न होगा कि 'रूप' संबंधी उसकी अवधारणा एक विशिष्ट चिंतन प्रणाली का परिणाम है। उसके लिए 'रूप', वस्तु की आभ्यंतर 'संरचना' का पर्याय है।

आलोचना की संरचनात्मक धारा के प्रणालीगत विषय में एक तथ्य विशेष महत्वपूर्ण है। संरचनात्मक आलोचना, किसी काव्यकृति का भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं है पर इसके साथ यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि उसके विश्लेषण का प्रारूप, अनिवार्यतः भाषा-वैज्ञानिक मॉडल है। ग्रीमा की आलोचना पद्धति इस बात को स्वीकार कर चलती है कि कथानक की संरचना का विश्लेषण, प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री सस्यूर के 'लांग' (भाषा-व्यवस्था) और 'परोल' (भाषा-व्यवहार) की संकल्पना के आधार पर विकसित प्रारूप पर ही संभव है। यह रूसी रूपवादी आलोचक 'प्राप' के विश्लेषणात्मक प्रणाली का रूपांतरण भाषा-वैज्ञानिक उपकरणों में करते हुए कथानक की अर्थवत्ता पर प्रकाश डालते हैं।[10] इसी प्रकार तदोरोव अपने आलोचना सिद्धांत को 'सार्वभौम व्याकरण' की संकल्पना पर आधारित करते हुए साहित्य को सांस्कृतिक स्तर पर उद्भासित करने वाले संघटक के रूप में देखने के पक्ष में है। उनके अनुसार न केवल भाषाएं बल्कि सभी प्रतीकपरक रचनाएँ इसी सार्वभौम व्याकरण की रचना की पुष्टि करती हैं।[11] फ़ाउलर तो पूरी काव्यकृति को ही वाक्यवत मानते हैं। उनके अनुसार उपन्यास के सभी तत्व अपनी संरचना में वाक्य के प्रकार्यात्मक उपांगों के समान है।[12] यह कहा जा सकता है कि संरचनात्मक आलोचना अपनी विश्लेषणात्मक प्रणाली एवं सैद्धांतिक मत प्रतिपादन में भाषा के दायरे में बँधकर चुक नहीं जाती, बल्कि भाषा के 'पार' जाकर उसकी प्रतीकात्मक अर्थवत्ता को रूप (संरचना) के सहारे उद्भासित और प्रकाशित करती है। अपने इस प्रयास में वह प्रारूप को अपने प्रणालीगत विश्लेषण का आधार बनाती है वह भाषा-विज्ञान के क्षेत्र की अपनी वस्तु है।

---

1 'One cannot define structuralism by examining how the word has been used ; that would lead only to despair.' J. Culler : Structuralist Poetics. Routledge & Kegan Paul. London (1975) p. 3.

2 Rolland Barthes. Science Versus Literature. The Times Literary Supplement (28 Sept. 1967) 897-8.

3 There are many performances of a poem—differing among themselves in many ways. A performance is an event, but the poem itself, if there is any poem, must be some kind of enduring object ......We are asking about the poem as a public linguistic object-something that can be examined by various persons studied, disputed-univocally.' W. K. Wimsatt and M .C. Beardsley. The Concept of Meter : An Excercise in Abstraction." in Essays on the Language of literature (eds) Chatman and Levin. Boston (1967).

4 This new concept' that the world is made up of relationships rather than things' constitutes the first principle of that way of thinking which can properly be called 'structuralist' T. Hawkes : Structuralism and Semiotics Methuen & Co. Ltd. London. (1977) 17-18.

5 'Thus regarded, structuralism is neither a theory nor a method but a way of looking at things.'

Edmund Leach. Structuralism in Social Anthropology. in Structuralism an Introduction (ed.) D. Robey Clarendon Press : Oxford. (1973) p. 37.

6 'The age in which we live is characterized by the tendency of all scientific disciplines to replace atomism with structuralism and individualism with universalizm N. Trubetzkoy. 'La Phonologie actuelle.' Journal de Psychologie' xxx' (1933) 246.

7 'Structuralism is no isolated phenomenon ; it is rather the expression of a general tendency of thought that, in these last decades, has become more and more prominent in almost all fields of scientific research, E Cassirer. 'Structuralism in Modern Linguistics' word, 1 (1945) 120.

8 विस्तार के लिए देखिए, रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव : संरचनात्मक शैलीविज्ञान, आलेख प्रकाशन, दिल्ली (1979)।

9 'The most characteristic feature of Structuralist criticism lies precisely in a kind of transformation of form into content, in which the form of Structuralist research (stories are organized like sentences, like linguistic enuneiation) turns into a propositon about content......' F. Jameson : The Prison House of Language Princetion University Press (1972) 198-9.

10 A. J. Griemas Semantique Structurale Larousse, Paris (1966).

11 'Not only all languages but also all signifing systems conform to the same grammar. It is universal not only because it informs all the language of the universe but because it coincides with the structure of the univers' itself :

T. Todorov. Grammaire du Decameron. Mouton : The Hague (1969) 15.

12 First, I suggested that the elements of novels are structurally analogous to the components of sentences..... second, what is surely uncontroversial, the cómpositional structure of a novel is realized in, and can be studied in, the actual sentences of its linguistic surface. R. Fowler: Linguistics and the Novel Methuen & Co. London (1977) 122.

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

Allen, Harold B. (ed.) 1964 Readings in applied English, New York : Appleton-Century-Crofts.

Althusser, L. 1971. Lenin and philosophy, and other essays. London : New Left Books.

——————, 1976. Essays in self-criticism London : New Left Books.

Anderson, W.L. and N.C Stageberg. (ed.) 1963. Introductory readings on language. New York : Holt, Rinehart and Winston.

Barthes, R. 1967. Science versus Literature, The Times Literary Supplement (28 Sept. 1967) 897-8.

Bateson, F. W. 1950. English poetry ; A critical introduction. London.

Beardsley, Monroe C. 1958. Aesthetics. New York : Hartcourt, Brace and World.

Bennet, T. 1979. Formalism and Marxism, London : Methuen & Co. Ltd.

Blackmur, R.P. 1952. Language as gesture. New York.

Braithwaite, R.B. 1968. Scientific explanation. London : Cambridge University Press.

Brook-Rose, Chr. 1958. A grammar of metaphor. London : Martin Secker and Warburg.

Cassirer, E. 1925. Sprache und mythos. Trans. as Language and myth. by Susane K. Langer. New York.

Chatman, S. and Samuel R. Levin. (ed.) 1967. Essays on the language of literature. Boston : Houghton Mifflin Company.

Chomsky, N. 1961. Some methodological remarks on generative grammar. Word 17. 219-39.

——— 1965. Aspects of the theory of syntax. Cambridge, Mass, : MIT Press.

——— 1969. Linguistics and politics. (Interview) new left review. 57. 21-34.

Coomarswamy, A.K. 1942. Symbolism in Dictionary of world literature. (ed) by Joseph T. Shipley. New York.

Crane, R.S. 1953. The language of Criticism and the structure of poetry. University of Toronto Press.

Daiches, D. 1956. Critical approaches to literature. London : Longmans, Green and Company.

Eagleton, T. 1976. Marxism and literary criticism, London : Methuen & Co. Ltd.

Empson, W. 1947. Seven types of ambiguity. London ; Chatto and Windus.

Fowler, R. ed. 1966. Essays on style and language. London : Routledge and Kegan Paul.

Francis, W. Nelson. 1962. Syntax and literary interpretation in George Town University Monograph. 13. 83-92.

Frank, Phillip G. 1958. Contemporary science and the contemporary world view, Daedalus. 57-66.

Galperin, I.R. 1977. (2nd Ed.) Stylistics, Moscow.

Hahn, L. E. 1942. A contextualistic theory of perception. University of California publication in philosophy. Berkeley and Los Angeles : University of California Press.

Halliday, M.A.K. 1964. Descriptive linguistics in literary studies. in A. Duthie (ed) English studies today. 25-38. Edinburgh : University Press.

——— 1969. (Memeo) Linguistic function and literary style : an enquiry into the language of William Golding's The Inheritors

Hill, A.A. 1956. Pippa's song : Two attempts at structural criticism. Studies in English : University of Texas. 35 51-56.

——— 1961. Literature in language teaching. ELEC Journal. Tokyo.

Hill, A.A. 1972 Poetry and stylistics. In Essays on the language of literature (eds. Chatman and Lenin) 385-397.

Hjelmslev, L. and H.J. Uldall. 1957. Outline of glossematics. (A study in the methodology of the humanities with special reference to linguistics.) TCLP Vol. XI.Copenhague.

Hockett, C.F. 1958. A course in modern linguistics. New York : Macmillan.

Jakobson, Roman. 1960. Linguistics and poetics. in Sebeok 1960.

Jameson, F. 1971. Marxism and form, Princeton.

Joad, C.E.M. 1932. Philosophical aspects of modern science London : Allen and Unwin.

Jung, C.J. 1945 Contributions to analytic philosophy. Trans, by H.G, and Cary F. Bayres. London.

Krieger, M. 1964. A window to criticism, princeton.

Kuznetsov, V. 1965. Einstein. Moscow.

Lavrin, J. 1947, An introduction to the Russian novel. London . Methuen and Company.

Leech, Geoffrey N. 1969. A linguistic guide toE'nglish poetry. London and Harlow : Longmans.

———— 1970. The linguistic and the literary, in Linguistics ; Present Frontiers. TLS. No. 3569.

Levin, Samuel R. 1946. Poetry and grammaticalness. in H. Lunt (ed.) Proceed. of the IX International congress of linguistics. The Hague : Mouton.

———— 1958 Internal and external description in poetry. Word 21. 225-237.

———— 1962. Linguistic structures in poetry. The Hague : Mouton.

Mac Leish, A. 1960. Poetry and experience. Baltimore : Penguin Books.

Macherey, P. 1978. A theory of literary production, London : Routledge and Kegan Paul.

Merzhkovsky, D.S. 1965. Dastoevsky and Tolstoy. in Donald Davie (ed). Russian literature and modern English fiction. Chicago London.

Mukarovsky, Jan. 1932. Standard lauguage and Poetic language. in Paul L. Garvin (ed). Prague School Reader on Esthetics literary structure and style. Georgetown University.

Nelson Fransis, W. 1964. Syntax and literary interpretation. in Allen 1962. 515-522.

Nowottny, W. 1962. The language poets use. London : The Athlone Press.

Pepper, Stphen C. 1938. Aesthetic quality : a contextual theory of beauty. New York : Charles Scribners Sons.

Popper, Karl R. 1953. A note on Berkley as percursor of Mach, British Journal of Philosopy of science. No. 6.

———— 1963. Conjectures and refutations : the growth of scientific knowledge. New York : Harper and Row.

———— 1965. The logic of scientific discovery. New York : Harper and Row.

Ranson, J.C. 1938. The world's body, New York.

———— 1941. The new criticism. Norfolk. Connecticut.

Richard, I.A. 1925. Principles of literary criticism. London : Routledge and Kegan Paul.

———— 1929. Practical criticism. London : Routledge and Kegan Paul.

———— 1963. The command of metaphor. in Anderson W. L. and N.C. Stageberg. 1963 157-171.

Saporta, S. 1960. The application of linguistics to the study of poetic language in Sebeok 1960. 82-93.

Schlauch, M. 1963. Linguistic aspects of Emily Dickensons slyte, Prace Filologiezne. XVIII. 201-215.

Sebeok, Thomans A. (ed). 1960. Style in language. Cambridge, Mass : MIT Press.

Shapiro, K. 1953. A primer for poets. Lincoln : University of Nebraska.

Slonim, M. 1959. An Outline of Russian literature. New York : Oxford University Press.

Spitzer, Leo. 1948. Linguistics and literary history. (essays in stylistics.) New Jersey : Princeton University Press.

———— 1953. Language—the basis of science, philosophy and poetry. in George Boas et al (ed,) Studies in intellectual history. Johns Hopkins Press.

Spitzer, 1962. Three poems on ecstasy. in Anna Hakher (ed). Essays on English and American literature. Princeton.

Srivastava, R,N 1967 d. Rhetoric devices in Ramacharita Manasa. In Nagendra (ed). Tulasidasa : his mind and art. Delhi :National.

Stankiewicz, E. 1960. Linguistics and the study of poetic language. in Sebeok 1960. 69-81.

———— 1961. Poetic and nonpoetic language in their interrel. ation in D. Davie (ed). Poetics. 11-23. The Hague : Mouton.

Tate, Allen. 1959 Collected essays. Denever.

Thorne, J.P. 1965. Stylistics and generative grammars. Journal of Linguistics. I, 49-59.

Toynbee, A. 1945. A study of history. Vol. I. Oxford.

Uitti, Karl D. 1969. Linguistics and literary theory. New Jersey : Prentice Hall.

Vivas, Elseo; 1955. Creation and discovery. Chicago : Henrey Regnery.

Voegelin, C.F. 1960. Casual and non-casual utterances within unified structures in Sebeok. 1960. 57-68.

Wellek, Rene. 1960. From the viewpoint of literary Criticism in Sebeok 1960. 408 – 420.

Wheelwright, P. 1962. Metaphor and reality. Bloomigton, Ind.

Wimsatt, W.K. 1958. The verbal icon : studies in the meaning of poetry. New York.

———— 1963. The prose style of Samuel Johnson. New Haven : Yale University Press.

———— and C. Brooks. 1957. Literary criticism—a short history. Oxford.

अज्ञेय, (सम्प०) 1943. तारसप्तक (पहला). दिल्ली : प्रतीक ।

———— (सम्प०) 1951. दूसरा तारसप्तक. दिल्ली : प्रगति प्रकाशन ।

———— (सम्प०) 1959. तीसरा तारसप्तक. काशी : भारतीय ज्ञानपीठ

———— 1960. आत्मनेपद काशी : भारतीय ज्ञानपीठ ।

किरणवाला, 1978. तुलसी की भाषा का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन, दिल्ली : अलंकार प्रकाशन ।

कुमार, सुरेश. 1977. शैलीविज्ञान, दिल्ली : मैकमिलन ।

——— 1977. शैलीविज्ञान और प्रेमचंद की भाषा, दिल्ली : मैकमिलन ।

——— और रवीन्द्रनाथ. शैली और शैलीविज्ञान, आगरा : केंद्रीय हिंदी संस्थान ।

कोझिनोव, व. 1965. क्या संघटनात्मक काव्य-शास्त्र संभव है ? साहित्यिक समस्याएँ 6. 82–107 (रूसी में)

चिर्कोव न. म. 1964. दास्तायेव्स्की का शिल्प-कौशल. मास्को (रूसी में)

चौधरी, सत्यदेव. 1979. भारतीय शैलीविज्ञान, दिल्ली : अलंकार प्रकाशन ।

चौहान, कर्णसिंह. 1978. आलोचना के नए मान, दिल्ली : मैकमिलन ।

झिरमुन्स्की, वि. 1928. काव्य-शास्त्र की समस्याएँ. सं० साहित्य-सिद्धांत की समस्याएँ. लेनिनग्राद ।

——— 1961. गेटे और बायरन की काव्य-रचना. मास्को में आयोजित साहित्यिक रचना के शैली-संबंधी सम्मेलन में पढ़ा गया शोध-लेख (रूसी में)

तिवारी, भोलानाथ. 1977. शैलीविज्ञान, दिल्ली : शब्दकार ।

——— 1977. शैली के धनी–आचार्य द्विवेदी. आलोचना 49-50, 107-116.

तोपोराव, व. न. 1962. भाषा-विज्ञान और काव्य-शास्त्र (याकोब्सन) की समीक्षा ; रूपवादी (टाइपोलाजिकल) विश्लेषण 264-66. मास्को ।

द्विवेदी, हजारी प्रसाद. 1967. लालित्य-सर्जना और विविक्तवर्णभाषा. आलोचना 40.28-35.

नगेन्द्र, 1970. नयीसमीक्षा : नये संदर्भ. दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस ।

नगेन्द्र, 1976. शैलीविज्ञान, दिल्ली : नेशनल ।

फ्रिडलेंडर, ग. म. 1964. दास्तायेव्सकी का यथार्थवाद मास्को-लेनिनग्राद. (रूसी में)

मिश्र, विद्यानिवास. (अप्रकाशित) पाणिनीय भाषादर्शन और भारतीय चिंतन.

——— 1973 रीतिविज्ञान, दिल्ली : राधाकृष्ण ।

यादव, विशनसिंह. 1977. 'कुटज' का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन आलोचना 49-50, 117-129.

येर्मिलोव, वी. फ. म. दास्तायेव्स्की. मास्को. (रूसी में)

रघुवंश, 1967. संस्कृत काव्यशास्त्र और संरचनात्मक पद्धति आलोचना. 39.54-59.

रेव्जिन, ई. 1965. कलात्मक रचनाओं के संघटनात्मक अध्ययन के लक्ष्य. साहित्यिक समस्याएँ 6. 73-87 (रूसी में)

लोटमान, यू० म०. 1970. साहित्यिक पाठक की संरचना (रूसी में), मास्को।

——— 1972. साहित्यिक पाठक का विश्लेषण (रूसी में), मास्को।

विनोकुर, ग. ओ. 1959. पृ० 251-3 रूसी भाषा संबंधी लेखों का संकलन. मास्को. (रूसी में)

विनोग्रादोव, वि. 1960. शब्द और बिम्ब संबंधी विवाद, साहित्यिक समस्याएँ (रूसी में) 1963. शैलीविज्ञान—काव्यशास्त्र के सिद्धांत—काव्यशास्त्र. मास्को- (रूसी में)

शर्मा, कृष्णकुमार. 1974. शैलीविज्ञान की रूपरेखा, जयपुर-उदयपुर : संघी प्रकाशन।

——— 1975. गद्य संरचना : शैलीवैज्ञानिक विवेचन, जयपुर-उदयपुर : संघी प्रकाशन।

——— 1978 (क) शैलीवैज्ञानिक आलोचना के प्रतिदर्श, जयपुर-उदयपुर : संघी प्रकाशन।

श्लोव्स्की, 1919. कला : प्रविधि की दृष्टि से. मास्को. (रूसी में)
1923. साहित्य और सिनमा. बर्लिन. (जर्मन भाषा में)

श्रीवास्तव, रवीन्द्रनाथ. 1962. प्रगतिशील आलोचना. इलाहाबाद : साहित्य भवन।
1967 ए. साहित्य-विश्लेषण का संघटनात्मक दृष्टिकोण. आलोचना 38.69-80
1967 बी भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि और आलोचना की नयी भूमिका-आलोचना 39.60-68
1968 काव्य-भाषा और शैलीविज्ञान आलोचना 42.11—20

श्रीवास्तव, रवीन्द्रनाथ. 1977 (क). काव्यसंसार और शैलीविज्ञान, आलोचना 42, 49-54.

——— 1977. (ख). संसर्गगत काव्य संसार आलोचना 43, 21-32.

——— 1977. (ग). शाब्दिक सौंदर्य, काव्यवस्तु और शैलीविज्ञान, आलोचना, 44. 33-45.

श्रीवास्तव 1979. संरचनात्मक शैलीविज्ञान, दिल्ली : आलेख प्रकाशन ।

——— 1980. कला और संरचनावादी दृष्टि, संक० साहित्य अध्ययन की दृष्टियां (96-106) दिल्ली : नेशनल ।

कुमार, सुरेश और रवीन्द्रनाथ. शैली और शैली विज्ञान, आगरा : केंद्रीय हिंदी संस्थान (संपा०). 1976.

शुक्ल, रामचंद्र. सं० 2011. रस-मीमांसा. काशी : नागरी प्रचारिणी ।

सिंह, केदारनाथ. 1959. अनागत. सं० अज्ञेय 1959.

सिंह, नामवर. 1968. कविता के नये प्रतिमान दिल्ली : राजकमल ।

सिंह, बच्चन. 1974. शैलीविज्ञान और आलोचना, आलोचना 30, 5-10.

Pioneer Printers, Sethgali, Agra-3 Phone : 64909